ओ३म्

वेदादि सिद्धान्त-शंका समाधान

सूर्या देवी चतुर्वेदा

आचार्या सूर्या देवी

सन् १९५८ में उत्तरप्रदेश सोरों एटा में जन्म प्राप्त, आपने पूजनीया गुरुवर्या सुश्री डॉ. प्रज्ञा देवी जी तथा पू. सुश्री आचार्या डॉ. मेधा देवी जी से वाराणसी में आकर व्याकरण-दर्शन-निरूक्तादि का गहन अध्ययन करके व्याकरणाचार्य सम्पूर्णानन्द विश्वविद्यालय से उत्तीर्ण किया । वैदिक गवेषणा में आप सर्वदा तल्लीन रहती हैं । आजीवन ब्रह्मचर्य व्रत धारण कर सम्पूर्ण जीवन 'पाणिनि कन्या महाविद्यालय' वाराणसी में ही पठन-पाठन करते हुए अर्पित कर दिया है ।

ओ३म्

दैशोपसुर्गाः शमु नो भवन्तु

॥ अथर्व० १६.६.६ ॥

(हमारे देशों के उपद्रव निश्चय से शान्त हो जायें)

वेदादि सिद्धान्त शंका-समाधान

आचार्या सूर्या देवी चतुर्वेदा

•

पाणिनि कन्या महाविद्यालय

वाराणसी

प्रकाशक :

श्री जिज्ञासु स्मारक पाणिनि कन्या महाविद्यालय

तुलसीपुर, वाराणसी-१० (उ.प्र.)

दूरभाषाङ्क :- ०५४२ - २३६०३४०

●

प्रथम वार - १०००

आषाढ़ पूर्णिमा, विक्रमी संवत्सर २०६०

१३ जुलाई, सन् २००३

मुद्रण में उदार सहयोगिनी–

पूज्या माता श्रीमती ईश्वरी आर्या जी

'शास्त्री भवन' पटना (विहार)

●

मूल्य - ६०/- रु.

●

मुद्रक :-

श्री विष्णु प्रेस

के.- ४७/२६७, कतुआपुरा, वाराणसी

ओ३म्

प्रशंसनीय लेखावली

प्रिय विदुषी 'सूर्या देवी जी' की 'अमृत-माला' का तृतीय पुष्प पाठकों के सम्मुख आ रहा है। इस पुस्तक की लेखमाला जो २५ विवेच्य विषयों पर तार्किक समाधान देते हुए तैयार हुई है उसे देखकर तो बरबस पीठ थपथपा कर यही कहने की इच्छा होती है कि 'वाह ! वीराङ्गने ! तेरे तरकस के बाण तो कभी समाप्त होते दिखाई ही नहीं देते।' चाहे 'सतीप्रथा' का विवेचन हो चाहे 'राम द्वारा शिवलिङ्ग की स्थापना' का खण्डन हो चाहे 'पितृपक्ष' का या 'गंगा दशहरा' का सही अर्थ बताना हो समस्त सत्य-अर्थ इतने सुन्दर शास्त्रोचित रीति से स्थापित किये हैं कि फिर कोई उत्तर रह ही नहीं जाता। पढ़ कर हृदय हर्षपूरित हो जाता है। आर्य जगत् वस्तुतः गौरवान्वित है लेखिका के ऐसे गहन चिन्तन, गम्भीर परिश्रम को देखकर। पूर्वपक्ष पढ़कर चित्त जितना तिलमिला उठता है और लगता है कि इसका सटीक समाधान क्या और कब होगा ? उतना ही आनन्द प्रिय सूर्या जी के दिये गये समाधानों को पढ़कर अनुभव होता है, जैसे असत्य की एक-एक परत उनके द्वारा छील दी गई हो। वेद के शब्दों में जैसा कहा गया–

श्रुतं मे मित्रावरुणा हवेमोत श्रुतं सदने विश्वतः सीम्।
श्रोतु नः श्रोतुरातिः सुश्रोतुः सुक्षेत्रा सिन्धुरद्भिः।।

।। ऋग्० १।१२२।६।।

अर्थात् अद्भिः = जलों से, सिन्धुः = नदी, सुक्षेत्रा = उत्तम खेतों को जैसे प्राप्त होती है, वैसे, सुश्रोतुः मे = मुझ अच्छे सुनने वाले के इन वचनों को, श्रुतम् = सुनो, सदने विश्वतः सीम् श्रुतम् = सब ओर से सभा में सुनो, चर्चा को समझो और, श्रोतुरातिः नः श्रोतु = जिसका सुनना दूसरे को देना है अर्थात् समाधान कर तृप्त करना है वह कार्य विद्वज्जन करें।

तात्पर्य हुआ कि सबके प्रश्नों को सुनकर अधिकारी वेत्ता को यथावत् समाधान करना चाहिये यह वेद का आदेश है।

इस उपदेश को शास्त्रान्वेषिणी दृढव्रती, ईश्वरभक्त प्रिय विदुषी सूर्या जी चरितार्थ कर रही हैं, यह सभी के लिये आह्लाद का विषय है।

वेद के शब्दों में उन्हें जूझने के लिये पुनः कहूँ कि-

नराशंसः सुषूदतीमं यज्ञमदाभ्यः।
कविर्हि मधुहस्त्यः॥

॥ ऋ० ५।५।२॥

अर्थात्- यथा गौः सर्वेषां सुखाय दुग्धं क्षरति तथा सर्वेषां सुखाय सत्यविद्योपदेशान् सततं वर्षय = जैसे 'गौ' सबके लिये सुख देती है, वैसे, सबके सुख के लिये हे विदुषि देवि ! तू सत्य विद्यामय उपदेशों की निरन्तर वर्षा कर। वेद का यही सन्देश है।

प्रभु से प्रार्थना है आपमें कार्य करने की प्रचुर शक्ति निरन्तर बनी रहे, प्रभुदेव ऐसे वेदभक्त-परिश्रमी का अवश्य कल्याण करेंगे मुझे विश्वास है।

शं ते सन्तु प्रचेतसे !

॥ ऋग्० १।५।७॥

आषाढ़ पूर्णिमा,
विक्रमी संवत्सर २०६०
१३ जुलाई, सन् २००३

भूरिभावयुता-
मेधा देवी
प्राचार्या पाणिनि कन्या महाविद्यालय
तुलसीपुर, वाराणसी - १०
(उ० प्र०)

ओ३म्

सच्चिदानन्देश्वराय नमो नमः

प्रतिवेदनम्

नमो ज्येष्ठाय च कनिष्ठाय च नमः पूर्वजाय चापरजाय च।
नमो मध्यमाय चापगल्भाय च नमो जघन्याय च बुध्न्याय च।।

यजु० १६।३२।।

वेदादि शास्त्र सार्वभौम हैं यह निश्चित सिद्धान्त है, पर उन शास्त्रों को जानने समझने में "**मुण्डे-मुण्डे मतिर्भिन्ना**" के अनुसार भिन्नता बनी ही रहती है, जिससे तथ्यों में भी भिन्नता आ जाती है। भिन्नता आना बुरा नहीं है, उन विभिन्नताओं का तालमेल न बैठना, शास्त्रानुकुल न होना बुरा है। ये विभिन्नतायें हमारे प्रत्येक क्षेत्र में हैं, चाहे धर्म हो, धार्मिक ग्रन्थ हों, वेद के तथ्य हों, हमारे व्यवहार हों, चाहे महापुरुषों के जीवन हों, सभी में विभिन्नता आज सर्वत्र दृष्टिगोचर हो रही है। हमारी अतिशयोक्तिपूर्ण कथन की शैली का ऐसा प्रचलन है, कि सुस्पष्ट बात को भी समझने-बूझने में अपने मत और सम्प्रदाय का रंग चढ़ाकर ऐसा बना देते हैं कि बस रंग ही रंग दीखता है, तथ्य का ओर-छोर ही नहीं दिखता, पुनः तथ्य पर असत्यता का पर्दा ऐसा पड़ता है कि हमारी आत्मा का संस्कार भी असत्य रूप को ही ग्रहण कर लेता है, जिससे हमारा ज्ञान, हमारी स्मृतियाँ दुष्ट[1] ज्ञान वाली बन जाती हैं, और सत्य हमसे बहुत दूर जा खड़ा होता है।

वेद की आज्ञा है - "**'ऋतस्य पथा प्रेत'** यजु० ७।४५।।

---

१. तद्दुष्टज्ञानम्, वै० द० ९।२।११ ।।

अर्थात् सत्य के मार्ग पर चलें। वेद की इस आज्ञा के अनुसार सभी को सत्य के ग्रहण करने में तत्पर रहना चाहिये, असत्य के त्याग में हठ या दुराग्रह नहीं होना चाहिये।

अपनी इस पुस्तिका में जो प्रचलित विवादरूप विषय हैं अथवा जानबूझ कर विवाद का विषय बनाया जाता है उनका ही सप्रमाण निराकरण किया है। मैंने जो भी समाधान प्रस्तुत किये हैं, वे वेद तथा वेदादि सत्य शास्त्रों के अनुसार ही दिये हैं। अपनी ओर से नया कुछ नहीं किया है। मेरा बाल्यकाल से ही असत्य बात को न मानने और सहन न करने का संस्कारगत स्वभाव रहा है, अत: जब भी वेदादि-शास्त्रविरुद्ध अनर्गल बातें, असैद्धान्तिक शङ्कायें समक्ष आयीं, मैंने उनका समाधान करना अपना ऋषि ऋण समझा, अत: समय-समय पर समाधान करती रही हूँ।

अपनी इस समाधान प्रक्रिया को अपने अध्ययन-काल से ही प्रारम्भ कर दिया था। असत्य बातों को दूर करने की इच्छा के आगे अपनी पूजनीया वन्दनीया **आचार्या डॉ० प्रज्ञा देवी जी** का संकोच होते हुए भी, क्योंकि साहस, दृढ़ता, दृष्टि सब कुछ आपसे ही प्राप्त था अत: पू० गुरुजनों के प्रति मेरी जो श्रद्धा और निष्ठा थी उसके कारण पूज्या आचार्या जी के समक्ष किन्हीं भी विषयों पर लिखना उचित नहीं समझती थी, वैसे भी मेरे किसी भी कार्य से गुरुजनों का अनादर द्योतित न हो, इस मर्यादा के लिये मैं सर्वदा सचेष्ट रही हूँ, रहती हूँ, पुनरपि पू० आचार्या जी के सम्मान का ध्यान रखते हुये यदा कदा समाधान करने में तत्पर रही।

मेरे द्वारा दिये गये समाधान काशी के वरिष्ठ पत्र **दैनिकजागरण, आज, गाण्डीव** तथा आर्यजगत् के वरिष्ठ पत्र **सार्वदेशिक, आर्यमित्र, आर्यजगत्, वेदवाणी, परोपकारी, टंकारा समाचार** आदि में प्रकाशित होते रहे हैं, जिनको काशी सहित सभी ने अत्यन्त सराहा।

कुछ समाधान आर्यजगत् में उठने वाली शङ्काओं के हैं, जो प्रायः हुआ करती हैं उनका भी विद्वद्जनों ने बहुत सुन्दर शब्दों में अनुमोदन किया है।

पुस्तिका में सभी समाधानों को उसी क्रम से रखा गया है जिनका जिस क्रम से समाधान होता आया है। मेरे द्वारा जब-जब ये समाधान प्रस्तुत हुये हैं सभी ने बड़ी गम्भीरता, बड़ी सुस्पष्टता-नम्रता के साथ स्वागत किया। बहुत सारे पत्रों के ढेर लग गये।

इस अवसर पर अपनी पूजनीया प्राणस्वरूपा **आचार्या मेधा देवी जी** को भूलना अपनी आत्मा को भुला देना है। जब भी आवश्यकता हुई तब मेरे साथ जाकर और पुस्तकों को उपलब्ध कराकर साहस देने का आपका ही कार्य रहा है। आपकी सद्प्रेरणा का ही परिणाम है कि मैं इस कार्य को करने में समर्थ हो पायी हूँ। आपके चरणों में ....।

इस पुस्तिका के सङ्केत मिलान, पाण्डुलिपि तैयार करना एवं प्रूफ संशोधनादि में **ऋतु आर्या, सरस्वती, प्रणीता** आदि ब्रह्मचारिणियों के नाम उल्लेख्य हैं। इन सभी ने बड़े मनोयोग एवं तत्परता से कार्य को पूर्ण कराने में समय लगाया है। मेरी स्वरेश से प्रार्थना है कि सभी ब्रह्मचारिणियाँ पूर्ण विदुषी एवं वैदिक आर्ष ग्रन्थों के प्रति निष्ठावान् बनें।

वेदमनुगता -

सूर्या देवी चतुर्वेदा

पाणिनि कन्या महाविद्यालय
वाराणसी-१० (उ०प्र०)
दूरभाषाङ्क-०५४२- २३६०३४०

आषाढ़ शुक्ल १५, वि०सं० २०६०
'गुरू पूर्णिमा'
१३ जुलाई, २००३ ई०

क्या ?
किसने सराहा !

११-७-८७

प्रिय पुत्री, सदैव प्रसन्न रहो।

तुम्हारे द्वारा लिखित एवं १९-४-८७ के आर्यमित्र में प्रकाशित **'धर्मिष्ठ राम द्वारा शिवलिंग की स्थापना या कल्याणकारी शिव की आराधना'** लेख पढ़ा। हृदय को प्रसन्नता हुई। ....।

बहुत-२ स्नेह के साथ-

आपका अंकल

महेन्द्र पाल रुस्तगी

मुंडिया धुरेकी, जिला-बदायूँ

उ०प्र०

१४-१०-८७

पूज्या दीदी जी!

सादर चरणस्पर्श प्रणाम।

आज **दैनिक जागरण के जनवाणी में** आपके विचारों को पढ़ा। **शंकराचार्य** से पूछे गये सवाल बड़े ही समयोचित एवं सच लगे। दीदी! कुछ लोग अखबारों में बने रहने के लिए ऊटपटांग की बातें बोला करते हैं, शंकराचार्य भी शायद इन्हीं में से एक हैं। हम लोग आपके विचारों से पूर्ण सहमत हैं।

जमाना २१वीं सदी में जा रहा है, समान अधिकार की बातें हो रही हैं, ऐसे में कुछ मूर्खाचार्य यदि **सतीप्रथा, ठगी प्रथा** फिर से चालू करने की बातें करें, तो बड़ा ही अटपटा सा लगता है ....।

आज आपके विचारों की हमारे परिवार के प्रत्येक सदस्यों ने भरपूर प्रशंसा की। वैसे मैं **राजा माण्डा श्री विश्वनाथ प्रताप सिंह जी का राजगुरु भी हूँ।**

आशा ही नहीं, अपितु पूर्ण विश्वास है कि आपके कृपा पत्र द्वारा सदाशीर्वाद प्राप्त होंगे।

आपके स्नेह का आकांक्षी

दीनदयाल द्विवेदी

अध्यक्ष युवा जनता पार्टी

माण्डा- ब्लाक, इलाहाबाद

ग्राम व पोस्ट- माण्डाखास

इलाहाबाद

❧❧❧

७-११-८७

सेवा में,

बहन सूर्या कुमारी जी !

प्रणाम।

मैं आपकी सती प्रथा के बारे में जो वक्तव्य **गाण्डीव** में ७ नवम्बर १९८७ को निकला था, उसे पढ़ा, हमें बहुत खुशी हुई कि **आपने शंकराचार्य को चुनौती दी,** यदि सतीप्रथा को बढ़ावा दे रहे हैं तो सता प्रथा को भी शंकराचार्य को बढ़ावा देने में पीछे नहीं हटना चाहिए क्योंकि सतीप्रथा कोई धर्म नहीं है। ....।

आज के युग के जितने भी अपराध होते हैं उसमें ९९% पुरुषों के

द्वारा ही होते हैं, पुरुष ही सभी अपराध को बढ़ावा देते हैं। समाज में कोई भी अपराध देखा जाए उसके जन्मदाता पुरुष ही हैं, अगर हमारी कोई गलती हो तो माफ करना बहन।

आपका–
रामाज्ञा

लोको रिफील कम्पनी,
दु०नं०- १२५
जवाहर लाल नेहरू मार्केट
इंगलिशिया लाइन, वाराणसी कैण्ट

***

२४-११-८७

सुश्री सूर्या कुमारी व्याकरणाचार्या !

सादर नमस्ते।

आपका **लेख आर्य जगत्** के २२ नवम्बर के अंक में पढ़कर जो अपार प्रसन्नता हुई है, उसे शब्दों में वर्णन करना कठिन है। आपने किस प्रकार से **पाखण्डी शंकराचार्य** को ललकारा है कि उसकी बोलती बन्द हो गई होगी। वास्तव में ऐसे ढोंगियों का खुलकर विरोध किया जाना चाहिए। अतः आपसे निवेदन करता हूँ कि आप इसी प्रकार ऐसे धर्म के ठेकेदारों को निरुत्तर करती रहें।

आप अपने इस लेख के लिए अपने इस भाई की ओर से बधाई स्वीकार करें।

आपका भाई–
राजेन्द्र कुमार आर्य

राजेन्द्र बुक सेलर्स
शास्त्री चौक, बालोतरा-३४४०२२, राजस्थान

***

खरोरा

३-६-९९

सूर्या जी!

सादर नमस्ते।

'कुलभूमि' पत्रिका में पृष्ठ नं० १५ पर आपका लेख **'वेदज्ञान का स्वरूप पुस्तक होगा या मूर्ति?'** पढ़कर बड़ी प्रसन्नता हुई है, आपसे हमें यही आशा है कि आप इसी तरह लेख लिखकर लोगों के ऊपर प्रकाश डालते रहिये। ....।

अरुणा गुप्ता

रायपुर (म०प्र०)

❧❧❧

१३-१०-९९

आदरणीय सूर्या देवी जी!

आदाब अर्ज।

आज आपके विचार मैंने **दैनिक 'आज'** में पढ़ा, जो वैसे मुझसे सम्बन्ध नहीं रखता, पर मैंने उस पर काफी विचार किया, वैसे धर्म कोई भी हो, उसका सही ज्ञान होना बेहद जरूरी है। हर इन्सान को अच्छे विचार रखने चाहिए, यही सारे संसार के लिए आवश्यक है, **आज देश व समाज को आपके जैसे विचारों की आवश्यकता है,** तभी लोगों में जागरूकता आएगी। आपने पूरे देश को एक चिन्तन दिया है घर में माँ-बाप सभी के होते हैं, चाहे वह किसी भी धर्म का हो, सभी को माँ-बाप की सेवा करनी चाहिए, तभी ईश्वर की कृपा हो सकती है, लिखने को बहुत कुछ चाह रहा हूँ पर आप आगे भी अपना लेखन जारी रखें। आपको बहुत-बहुत बधाई-

महमूद खाँ

कालिवन कॉलेज, लखनऊ

❧❧❧

१३-४-२०००

आदरणीय सूर्या जी!

आदाब अर्ज।

मुझे आपका वह शब्द बेहद पसन्द आया कि **धर्म किसी की बपौती नहीं**, बिल्कुल सही लिखा ....।

आपकी हौसला मन्दाना जिन्दगी, दृढ़ शक्ति से मैं बेहद मुतास्सर हुआ, आप जैसी महिलायें ही देश व समाज को सही दिशा दे सकती हैं। आपमें इन्सान को पहचानने की भरपूर क्षमता है। ....।

काश! लोग आपको पढ़ सकते और आपके विचारों से लाभान्वित हो सकते। ....।

महमूद खाँ
कालिवन तालुकदार कॉलेज
विश्ववि० मार्ग, लखनऊ

❥❥❥

२२-७-२०००

सम्माननीया सुश्री आंचार्या जी!

सादर नमस्ते।

आपके द्वारा लिखित **'गायत्री नाम का औचित्य'** नामक पाँच पृष्ठ का लेख आज ही मिला, पढ़कर मन में बहुत ही प्रसन्नता हुई। इस लेख में आपने प्रमाणों की झड़ी लगा दी है। यह लेख आपके शास्त्रीय ज्ञान व परिश्रम का परिज्ञान करा रहा है। एतदर्थ धन्यवाद। ....।

आचार्य भद्रकाम वर्णी

आर्यसमाज आर्यनगर
पहाड़गंज, नई दिल्ली-५५
फोन- ३५१४५१७

❥❥❥

१४-५-२००१

आरदणीया बहिन सुश्री सूर्या कुमारी जी!

सादर, सप्रेम नमस्ते।

आपके आर्य जगत् १३-५-२००१ और मधुर लोक - मई २००१ में **'मुम्बई आर्य महासम्मेलन की एक रपट'** तथा **'स्वाहा या ओ३म् स्वाहा'** लेख पढ़ने को मिले। तदर्थ बहुत-बहुत धन्यवाद।

इन दोनों लेखों में आपने महासम्मेलन की लगभग सम्पूर्ण समीक्षा कर दी है। ....।

आपका भाई
डॉ० रामकृष्ण आर्य
कोषाध्यक्ष
और
कार्यालय प्रभारी

४-भ-२७, विज्ञान नगर, कोटा-३२४००५
(राजस्थान)

१५-५-२००१

आदरणीय बहिन जी!

सादर नमस्ते।

दिनांक १३ मई २००१ के आर्य जगत् के पृष्ठ ६ पर आपका लेख **'मुम्बई आर्य महासम्मेलन की एक रपट'** शीर्षक से पढ़ने को मिला। आपने अपनी माधुर्य शैली में सम्मेलन की सटीक समालोचना की है जो अत्यन्त आवश्यक है।

लेख के लिए साधुवाद। **सुश्री विदुषी मेधा जी** बहिन को सादर नमस्ते।

भवदीय,
मेघश्याम वेदालंकार

आर्यसमाज, लाजपतनगर (रजि०)
(नई दिल्ली) - ११००२४

२३-५-२००१

सुश्री सूर्या देवी जी महोदया!

सादर नमस्ते।

आर्यजगत् के दिनांक २३ मई २००१ के पृष्ठ ६ पर आपका लेख पढ़ा **'मुम्बई आर्य महासम्मेलन की एक रपट'** वास्तविक आर्यों के इस महासम्मेलन का चित्र आपने निर्भयता से खींचा है। मेरी दृष्टि से यह तो मुम्बई अन्तरराष्ट्रीय आर्य महासम्मेलन के ब्रह्मा जी की भी अच्छी हाजिरी ली है। ....।

आपका लेख आर्यों की आँखें खोलने वाला है।

केवलानन्द

स्वामी केवलानन्द सरस्वती
ज्ञानसागर वैदिक साहित्य प्रचार केन्द्र
श्यामलाल अभियंत्रकी महाविद्यालय
पो०- उदगीर जिला लातूर (महाराष्ट्र)

२४-५-२००१

आचार्या सूर्या देवी जी!

नमस्ते।

आर्यजगत् में **बम्बई की रपट पढ़ी**। अच्छा लगा। यह सब बहन **प्रज्ञा जी के संस्कारों व साधना का प्रताप है।**

बहिन मेधा जी को प्रणाम।

लेख के लिए बधाई।

भवद्बन्धु
सन्तोष कण्व

आर्य समाज बिहारीपुर
बरेली

२९-५-२००१

प्रिय भगिनी सूर्या देवी जी!

सादर नमस्ते।

आर्य जगत् का १३ मई २००१ का पृष्ठ सं० ९ आद्योपान्त पढ़ा। पढ़ने के पश्चात् विचार आया कि बेटी सूर्या को इस साहसिक लेख के लिए आशीर्वाद अवश्य दिया जाना चाहिए।

'अभयं कुरु' के अनुसार **मुम्बई आर्य महासम्मेलन की इस संक्षिप्त रपट में 'दिल्ली की कबड्डी और मुम्बई के मंच का मैच'** यह वाक्यांश बहुत गम्भीर और रहस्यमय है। आर्य समाज में स्वामियों द्वारा ब्रह्मा बनकर ऋत्विजों तथा यजमानों में पूजित होने का एक रोग लग गया है। अनग्नि संन्यासियों का यह लोभ आर्यसमाज को कहां ले डूबेगा, अभी नहीं कहा जा सकता, विद्वान् संन्यासियों द्वारा प्रत्येक मन्त्र के प्रारम्भ और अन्त में 'ओ३म्' उच्चारण स्वेच्छाचारिता का द्योतक है। इसकी शास्त्रीय विवेचना होने पर भी अवहेलना उचित नहीं। यह महासम्मेलन, तलाश से तलाश तक केवल तलाशता ही रहा, किन्तु प्राप्तव्य हाथ न लगा। ....।

आपमें निर्भीकता पूर्ण अभिव्यक्ति बनी रहे, यही प्रभु से प्रार्थना है। इस साहस के लिए पुनः बधाई।

आपका अग्रज

मनुदेव 'अभय'

विद्यावाचस्पति

सुकिरण

अ/१३, सुदामा नगर

इन्दौर - ४५२००९ (म०प्र०)

११-६-२००१

परम पूज्य श्रद्धेय सुश्री सूर्या देवी बहिन!

चरण स्पर्श।

आपका लेख आर्यजगत् १३ मई पेज ९ पर छपा **'मुम्बई आर्य महासम्मेलन एक रपट'** बहुत अच्छा लिखा।

आपका सेवक

चुन्नी लाल आर्य

२४-६-२००१

मान्य सम्पादक जी आर्यजगत्

इस १३ मई के अंक में सुश्री सूर्या देवी का लेख मुम्बई आर्य महासम्मेलन की एक रपट भी पढ़ने का अवसर मिला, जो **निःसन्देह बहिन जी के साहस, ईमानदारी और धर्मभक्ति का परिचय देती है** जो कि आर्यों को अपनी योग्य स्थिति से अवगत कराती है। लेकिन आर्यों की वर्तमान स्थिति पर जिसमें दिखावा चापलूसी हो, जीवन का अंग बनते जा रहे हैं, सही विचार व्यक्त किए हैं। सम्मेलन में ब्रह्मा द्वारा की गई अशोभनीय मिलावट, यजमानों की ठगी, चहेतों को खुश रखने के लिए स्मृति चिह्न आदि की बांट का जिक्र करके बहिन जी ने निर्बाध गति से निर्भीकता का परिचय दिया है, जो निरन्तर चलता रहना चाहिए ताकि आर्यों में चापलूसी घर न करें।

डॉ० रामाश्रय आर्य

आर्यसमाज घंटाघर

भिवानी- १२७०२१

३१-१०-२००१

अगर बागवानों ने नहीं बदली रबिश अपनी,

तो पत्ता-पत्ता इस चमन का बागी हो जायेगा

आदरणीया भगिनी सूर्या जी!

नमस्ते।

मान्यवर महोदया! आपका लेख **'अर्थहीन चुनौती'** (चुनौती को चुनौती) मैंने 'मधुर लोक' अंक-१२ अक्टूबर २००१ (ई०) में वाचन किया। लेख आपका अतीव उत्कृष्ट है, और आपने लेखक को यह बताने का प्रयास भी किया है कि आपकी धारणा त्रुटिपूर्ण है। वह माने न माने, यह तो उस पर ही निर्भर है, परन्तु लेख आपका अतीव बढ़िया है, कोटिशः धन्यवाद।

विनीत

हीरा लाल आर्य

१६-११-२००१

नहीं किसी वैर, किसी का पक्ष नहीं है, मिट जाए अन्याय धर्म का लक्ष्य यही है।

यों तो मैं हर दर पै शिर झुका दूँ, मगर नुमाइश का सिज़दा इबादत नहीं।

आदरणीय भगिनी सूर्या जी!

सादर नमस्ते।

आपका लेख **'ओ३म् स्वाहा के घेरे में दयानन्द'** मैंने दयानन्द सन्देश नवम्बर २००१ में वाचन किया। आपका लेख अतीव उत्कृष्ट है। आपकी ललकार तो मुझे बहुत ही पसन्द है, परन्तु हाय रे विधाता! सत्य को सत्य कहने वाला, महर्षि दयानन्द जिनके आदि में दया, अन्त में आनन्द है, के पश्चात् कोई भी इस विश्व में दिखाई नहीं देता है। एक संस्मरण है -

सच कहूँ तो मारिया, झूठा जग पतियाय।

सात टके की पागड़ी, नव टके में जाए ।। – महात्मा कबीर

पहली बात तो यह है कि व्याकरण में निष्णात महर्षि दयानन्द ने काशी में दहाड़ लगाई थी, तो पौराणिकों के छक्के छुट गए थे। इसके पश्चात् स्यात् आपका ही द्वितीय नम्बर है। ये दब्बू लोग कोई भी सामने नहीं आयेंगे। मेरी ओर से मेरी भगिनी मेधा जी को नमस्ते बोल देना। ....।

धन्यवाद।

विनीत –
हीरालाल आर्य
प्रधान आर्य समाज

ग्राम/पत्रालय- बोडियाकमालपुर
जिला – रेवाड़ी (हरियाणा)
पत्रांक – १२३४०१

❧❧❧

२३–१२–२००१

समादरणीय भगिनी आचार्या जी!

सादर नमस्ते।

आपका लेख 'ओ३म् स्वाहा का जल्प-वितण्डावाद' मैंने 'परोपकारी' में पढ़ा, जो अंक १२ दिसम्बर २००१ में छपा है। आपका लेख अतीव सटीक है।

धन्यवाद।

आपका भ्राता
हीरा लाल आर्य, प्रधान
आ०स०

❧❧❧

६-४-२००२

वहन जी ।

सादर नमस्ते ।

'स्त्रियों को वेद पढ़ना, यज्ञ और यज्ञोपवीत' पढ़ा, बहुत सुन्दर लिखा है । अति धन्यवाद ।

इससे पूर्व में आर्यों के गुरु वयोवृद्ध स्वामी सर्वानन्द जी ने भी ऐसा ही लेख स्त्रियों के विरुद्ध लिखा था, उन्हें भी एक कॉपी अपनी हस्तलिखित भेजें ।

आर्यमुनि
बालसमन्द रोड
हिसार - १२५००१ (हरियाणा)

प्रखर विदुषी आचार्या सूर्या देवी जी चतुर्वेदा ! १-६-२००३

सादर नमस्ते ।

मानव का जीवन परमात्मा की प्राप्ति, उसका चिन्तन, मनन, ध्यान और संसार में ज्ञान की वृष्टि करते हुए दूसरों को आत्मसुख से तृप्त करने, सत्य के रास्ते पर ले जाने के लिए मिला है ।

आप का जीवन भी ऐसा ही है। बचपन से गुरु माता स्व० पू० आचार्या डॉ० प्रज्ञा देवी जी और आचार्या पू० मेधा जी के चरणों में विद्याध्ययन कर अपने जीवन को आपने पाणिनि कन्या महाविद्यालय वाराणसी को समर्पित किया हुआ है । गुरु आज्ञा को शिरोधार्य मानकर चलने वाली आप विदुषी विद्यालय के कार्य को बड़ी दक्षता से निभाती हैं यह उत्तम बात है।

आर्य समाज में अपना विशिष्ट स्थान बनाने वाली आप विदुषी आर्या का चरित्र गङ्गा की तरह पवित्र, सरल, कोमल है। स्वभाव से मासूमपन, निष्कपटता झलकती है। सदैव दूसरों के जीवन को ऊँचा उठाने की भावना रहती है, यह भावना निःस्वार्थपन का परिचय भी देती है। ईश्वर के प्रति अटूट विश्वास, श्रद्धा की भावना आपके अन्दर झलकती है। आपकी ईश्वर भक्ति को देखने से ऐसा लगता है कि आगे चलकर एक उच्च स्थान को प्राप्त करेंगी। आप के स्वाध्याय और चिन्तन को देखने से लगता है कि आप कोई चीज की खोज कर रही हैं। आप की वाणी में बड़ा ओज है जिसको सुनकर कम पढ़े, लिखे व्यक्ति को भी स्वाध्याय करने का नशा चढ़ जायेगा।

सम्प्रति आपने जो भी लेखन किया है वह बड़ा सारगर्भित और विद्वत्तापूर्ण है। आपकी जितनी भी प्रकाशित पुस्तकें हैं उनको पढ़ने से सुस्पष्ट है कि आपकी भाषा-शैली बड़ी विशिष्ट एवं ओजपूर्ण है।

मैं अरुणा आर्या उस प्रभु से यही प्रार्थना करती हूँ कि सूर्या जी सदैव स्वस्थ रहें, उनका जीवन बड़ा अनमोल है और आर्यजगत् के लिए एक धरोहर हैं। ऐसी विदुषी आर्या की यश कीर्ति सदा जग में फैलती रहे और वे वेद की ज्योति को घर-घर तक पहुँचाकर प्रकाशित करती रहें।

अरुणा आर्या

मु० पो० खरोरा
ज़िला रायपुर (३६ गढ़) म० प्र०

ओ३म्

यथातथाख्या

●

ओ३म्

यह कैसी ऐतिहासिक भूल?

महोदय- गत २४ नवम्बर सन् १९८३ दैनिक पत्र 'आज' में **"स्वामी दयानन्द"** शीर्षक से एक टिप्पणी पढ़ी, जिसमें **श्रीमती वन्दना दीवान** ने बड़े हौसले के साथ यह लिखा है कि **'लार्ड नार्थ बुक** नामक कोई वाइसराय इतिहास में हुआ ही नहीं है, अतः स्वामी दयानन्द ने उनसे भेंट की, यह बात गलत है।' इस ऐतिहासिक विषय पर अविकसित लेखनी चलाकर उन्होंने जनता जंनार्दन के समक्ष अपने घोर अविवेक को ही प्रदर्शित किया है।

इतिहास को देखने से पता चलता है कि १५०९-१८५६ ई० तक 'रावर्ट क्लाइव' से लेकर 'लार्ड डलहौजी' तक जितने भी भारत में ब्रिटिश साम्राज्य के सेनापति आये, उन सभी ने गवर्नर जनरल के रूप में कार्य किया। इसके पश्चात् १८५६-१९४८ ई० तक 'लार्ड कैनिंग' से लेकर अन्तिम 'लार्ड माउन्ट बेटन' तक सभी ब्रिटिश साम्राज्य के सेनापतियों ने गवर्नर जनरल के साथ-साथ वाइसराय के रूप में भी कार्य किया। यानी ये सभी गवर्नर इंग्लैण्ड तथा भारत दोनों का शासन कार्य एक साथ सम्भालते थे। इन वाइसरायों की कुल संख्या २२ है। इस विषय को विस्तृत रूप से जानने के लिये देखें, डा० **ईश्वरी प्रसाद** विरचित **"भारतवर्ष का इतिहास"** जिसमें उन्होंने क्रमशः वाइसरायों की गणना कर एक नक्शा हमारे सामने प्रस्तुत किया है।

'लार्ड नार्थ ब्रुक वाइसराय' सप्तम वाइसराथ है। इसका शासन काल १८७२-७६ ई० है। इसी लार्ड नार्थ ब्रुक वाइसराय से जगद् गुरु

महर्षि दयानन्द की भेंट १८७३ ई० में कलकत्ते में हुई थी। उस समय योगिराज समाज सुधारक **स्वामी दयानन्द** महाराज की अवस्था ४७ वर्ष की थी। क्रान्ति के अग्रदूत ऋषिवर दयानन्द सरस्वती का जन्म सन् १८२४ में हुआ, तथा निर्वाण सन् १८८३ में। १७-१८ वर्ष की अवस्था में तो वे अपने गृह पर ही विद्याध्ययन कर रहे थे। २२ वर्ष की अवस्था में सांसारिक मोह बन्धनों को त्याग, विद्या के मर्म को समझने के लिये घर से भाग निकले, इसके पश्चात् कठोर विद्याध्ययन कर अपना सम्पूर्ण जीवन संसार के अन्धविश्वासों को दूर करने में लगा दिया। महर्षि का जीवन-वृत्त उनके जीवन चरित्र से अविकल रूप से जाना जा सकता है। **एवंविध यह सुस्पष्ट है कि स्वामी दयानन्द ने लार्ड नार्थ ब्रुक से वार्ता तथा भेंट की थी।**

इसी प्रकार १६४२-४४ में **'लार्ड ऐलन ब्रो'** गवर्नर नहीं थे, बल्कि १६३६-४४ में **लार्ड लिनलिथ गो** गवर्नर नियुक्त थे, यह लिखना भी लेखिका की भूल है। महान् आश्चर्य है कि लेखिका ने केवल लोगों में आर्यसमाज विषयक भ्रम फैलाने की दृष्टि से अपनी कलम उठाने का दुःसाहस किया है जो अति उपहासास्पद होने के साथ-साथ अति गर्ह्य भी है।[1]

१. दैनिक पत्र 'आज' में ३० नवम्बर १६८३ पृ० ४ पर प्रकाशित।

सती प्रथा समर्थक पुरी शंकराचार्य जी को चैलेञ्ज
तथा
राजदण्ड की माँग

[पाठकों को यह जानकर आश्चर्य होगा कि विद्यालय की ओर से जब मेरा यह चैलेञ्ज स्थानीय समाचार पत्रों में प्रकाशित हुआ, तो ***'पुरी'*** *के* ***शंकराचार्य श्री निरञ्जन देव तीर्थ जी*** *धर्मसंघ काशी को छोड़ भाग गये*[1]*, वर्ष पर्यन्त मुँह छिपाये बैठे रहे। १ वर्ष पश्चात् काशी पधारे, पुनः सिवाय गालियों के और कोई उत्तर न दे सके।]*

गत दिनों ४ सितम्बर १९८७ को राजस्थान दिवराला ग्राम के निवासी मृत **माल सिंह** के साथ उसकी धर्मपत्नी **१८ वर्षीया रूपकँवर** को धर्म के ठेकेदार आग्रहिल पण्डितों ने बलात् अग्नि में झोंकवा दिया, और चिता से आने वाली रूपकँवर के चीत्कारों को **'रूपकँवर गायत्री माता का जाप कर रही है'** ऐसा बताकर उन चीत्कारों को **'सती रूपकँवर की जय'** के नारों में विलीन कर दिया गया। इस अमानुषिक कृत्य से पूरा देश दहल उठा है। इस नृशंस कृत्य के विरोध में राजकीय नेताओं द्वारा ठोस कदम उठाये जाने पर एतादृश पाशविक कृत्यों के उद्भावक मठाधीश सती प्रथा को धर्म नाम देकर राजकीय नेताओं को संस्कृति उन्मूलक बता रहे हैं।

एतद्विषयक विचार सती प्रथा को धर्म बताने वालों में अग्रगण्य पुरी के **शंकराचार्य निरञ्जन देव तीर्थ जी** के ५ अक्टूबर १९८७ के दैनिक

---

१. और मेरे वक्तव्य के विरोध में ६ पृष्ठों का गाली भरा, अश्लील समाचारों की कटिंग के साथ धर्मसंघ से एक पत्र भेज दिया गया।

पत्र 'आज' में तथा ७ अक्टूबर १९८७ के दैनिक पत्र "दैनिक जागरण" में "सती धर्म पर कुठाराघात का सरकार पर पुरी शंकराचार्य का आरोप" 'एवं फांसी के तख्ते पर लटक कर भी सती धर्म का समर्थन करूँगा' इन दो शीर्षकों में पढ़े, जो मानवीयता के प्रथम गुण संवेदनशीलता से कोसों दूर थे। उनका कहना है कि "सती धर्म पर सरकार का हस्तक्षेप करना भारतीय संस्कृति को नष्ट कर, भ्रूणहत्या तथा गर्भपात को प्रश्रय देना है, एवं विधवाओं की भीड़ खड़ी करना है अतः सतीप्रथा देश में बरकरार रखनी चाहिए"।

मैं इस प्रसङ्ग में श्री शंकराचार्य जी से पूछना चाहती हूँ, कि-

(१) गुरुपद विभूषित स्वामी करपात्री जी, स्वामी भास्करानन्द जी तथा अखण्डानन्द जी जैसे मान्य संन्यासियों ने अपने जीते जी अपनी अल्पवयस्का बालधर्मपत्नियों को छोड़कर, क्या भ्रूणहत्या, गर्भपातादि सदृश कदाचारों को समाज में जन्म नहीं दिया ? पुनः पति के मरने पर ही क्यों पत्नी को जलाने का कुकृत्य किया जा रहा है।

(२) यदि पति के मर जाने पर पत्नी के माता-पिता, भाई-बन्धु के रहते हुए भी पत्नी को व्यभिचार से बचाने के लिए पति के साथ जलने के लिये विवश किया जाता है, तो क्यों नहीं पति से पहले सौभाग्यवती पत्नी के स्वर्गत हो जाने पर पति को भी पत्नी के साथ जलने के लिए विवश किया जाता है? क्योंकि पत्नी के न रहने पर पति भी तो इहलोक में अकेला होकर न जाने किन-किन व्यभिचारों को अपना सकता है। ऐसी अवस्था में स्वेच्छाचारी पुरुष तथा स्वेच्छाचारिणी स्त्रियों की पुनः बाढ़ आ सकती है। मेरी समझ में पुरुष को भी सता होने की व्यवस्था होनी ही चाहिए। जब नारी पुरुष की अर्धाङ्गिणी है और पुरुष नारी का अर्धाङ्गी है तो

पुरुष को भी स्त्री के साथ आहुत करने पर ही अर्धाङ्गीत्व भी सफल होगा, और नर-नारी दोनों का सतीत्व भी सुरक्षित रहेगा।

(3) तीसरी बात यह है कि-क्या शंकराचार्य जी इसकी गारण्टी दे सकते हैं, कि देश में विधवाओं के अतिरिक्त कोई भी व्यभिचार नहीं फैला रहा?

वस्तुतः **'सती'** शब्द **'अस भुवि'** धातु से शतृ प्रत्यय करके बना है। जिसका अर्थ है **'विद्यमान रहती हुई'** न कि जलायी जाती हुई। **'सती'** शब्द का प्रथा शब्द के साथ समास होने पर अर्थ होगा- **"सत्याः कर्मणां प्रथा इति सती प्रथा"** अर्थात् **विद्यमान रहती हुई पत्नी के कर्मों की ख्याति, विस्तार।**

इस **सती** शब्द को मध्यकाल के **जौहर** का पर्यायवाची मानना अपनी शब्दार्थ अनभिज्ञता को ही प्रकट करना है। **सती प्रथा** का उल्लेख चारों वेदों एवं मनुस्मृत्यादि स्मृतियों में कहीं पर नहीं है, न ही यह **सती प्रथा** हमारी भारतीय संस्कृति का स्तम्भ है, यदि शंकराचार्य जी वेदों से **सती प्रथा** को सिद्ध कर सकते हैं तो **'पाणिनि कन्या महाविद्यालय वाराणसी'** का चैलेञ्ज है कि इस विषय पर कन्याओं से शास्त्रार्थ करने के लिए शीघ्रातिशीघ्र दिन निश्चित कर लें।

मध्यकाल में राजपूतानी क्षत्राणियों ने यवनों से अपनी पवित्रता बनाये रखने के लिए जो समयोचित जौहर स्वरूप कृत्य किया, वह शाश्वत धर्म नहीं था, सामयिक विवशता थी और अपने अस्तित्व की रक्षा का उपाय था। इस जौहर को तत्कालीन पण्डितों ने धर्म का नाम देकर न जाने कितनी पतिरहिता नारियों को यमलोक पहुँचाया और सती मन्दिर बनवाये, जो उनके आयस्रोत बने हुवे हैं। महान् आश्चर्य है कि भूना तो जीवित जागृत स्त्रियों को गया, और माल के भागीदार बन गये, स्वार्थान्धी महन्त।

इन कट्टर पन्थियों की सतीधर्म की पोपलीला ने बंगाल एवं राजस्थान में अधिक जोर पकड़ा, जिसका आज से लगभग सौ साल पूर्व **राजाराम मोहनराय एवं ऋषिवर दयानन्द** जी जैसे समाज सुधारकों ने डटकर विरोध किया था एवं आशातीत सफलता प्राप्त की। इन्हीं के विरोध के फलस्वरूप तत्कालीन **'लार्ड विलियम बेण्टिक'** ने **सन् १८२८ ईस्वी में सती प्रथा को अवैध घोषित किया था।** अतः **आज राजनेताओं से भी यही माँग है कि सती प्रथा को कायम रखने वाले को दण्ड दिया जावे।** सतीप्रथा न धर्म है, न आर्य संस्कृति का अङ्ग और न ही सदाचार रक्षक है किन्तु नरपिशाचिका अवश्य है। विस्तृत भारतीय संस्कृति की अवयव सप्तमर्यादाओं का शतशः पालन करने पर ही हमारी संस्कृति अक्षुण्ण एवं चिरस्थायी रह सकती है। इसमें भी कोई सन्देह नहीं, कि इन मर्यादाओं के पालन से ही व्यभिचारादि समाज के कलंक दूर हो सकते हैं। इन मर्यादाओं का विधान, ऋ० १०।५।६ के-

सप्त मर्यादाः कवयस्ततक्षुस्तासामेकामिदभ्यंहुरो गात्। इत्यादि मन्त्रों में किया गया है। जिनका परिगणन महर्षि यास्क इस प्रकार करते हैं-

(१) **स्तेय**=चोरी (२) **तल्पारोहण**=परस्त्री गमन। (३) **ब्रह्महत्या**=वेदज्ञ ब्राह्मणों की हत्या (४) **भ्रूणहत्या**=गर्भपात (५) **सुरापान**=मद्यपान (६) **दुष्कृतस्य कर्मणः पुनः पुनः सेवा**= किसी बुरे कर्म को पुनः-२ जान बूझकर करना (७) **पातकेऽनृतोद्यम्**[1]= किसी पाप को छिपाने में झूठ बोलना। अर्थात् ये मर्यादायें मनुष्यमात्र की परिपालनीय हैं, इन पापजनक पाशों को नहीं अपनाना चाहिए।

वस्तुतः श्री शंकराचार्य जी को जिस प्रकार विधवा-वृद्धि का भय हो रहा है, उससे कहीं अधिक हमें विधुर वृद्धि का भय है, अतः विधुरों की

---

१. निरु० ६।५।१११।।

वृद्धि से होने वाले व्यभिचार कुकर्म को दूर करने के लिए श्री शंकराचार्य जी को यथाशीघ्र सता प्रथा बनाने का आन्दोलन छेड़ देना चाहिए। जब हमारा भारतीय संविधान नर-नारी दोनों को समानता प्रदान करता है, तो सतीप्रथा के साथ-साथ पुरुषों के लिए भी ऐसा कानून बनना ही चाहिए।

सती प्रथा के समर्थन में श्री शंकराचार्य जी का बलिदान बड़ा अनूठा है। ऐसे बलिदानी वीर से हम बहिनें यह भी बल पूर्वक आग्रह करना चाहेंगी, कि वे **देश की वर्तमान स्थितियों एवं गोरक्षा हेतु अपनी-अपनी गद्दी छोड़कर फाँसी के तख्ते पर लटक जायें**, तो देश का बड़ा कल्याण होगा।[1]

❖

पूजनीया महाभागाः पुण्याश्च गृहदीप्तयः।
स्त्रियः श्रियो गृहस्योक्तास्तस्माद् रक्ष्या विशेषतः।।

उद्यो० ३८।११॥

अर्थात् स्त्रियाँ भाग्यशाली, पूजनीय, पवित्र, गृह की ज्योति तथा गृह की श्री रूप हैं अतः उनकी रक्षा विशेष रूप से करनी चाहिए।

स्त्रियं हत्त्वा मातरं च को हि जातु सुखी भवेत्।
पितरं चाप्यवज्ञाय कः प्रतिष्ठामवाप्नुयात्।।

शान्ति० २६६।१२।।

अर्थात् स्त्री तथा माता को मारने वाला कोई भी सुखी नहीं होता और न कोई पिता की अवज्ञा करने वाला प्रतिष्ठा को पाता है।

---

१. दैनिक पत्र 'दैनिक जागरण' में १४ अक्टूबर १९८७, पृ० ४ पर प्रकाशित।

धर्मिष्ठ श्री राम द्वारा शिवलिङ्ग की स्थापना
या
कल्याणकारी शिव की उपासना

[१६ नवम्बर १६८६ तथा १८ जनवरी १६८७ के साप्ताहिक आर्य सन्देश पत्र के ३ एवं १२ अंक में "हिन्दुस्तान में ईसाई मिशनरियों के काले कारनामों का भण्डाफोड़" इस शीर्षक से "श्री बिशन स्वरूप गोयल" का एक लेख प्रकाशित हुआ है जिसमें लेखक ने तीर्थस्थलों में ईसाइयों द्वारा किये जा रहे कुकृत्यों की चर्चा की है, वहाँ वे प्रसङ्गवश 'रामेश्वरम्' तीर्थ स्थल की पवित्रता का बखान करते हुए एक बहुत सिद्धान्त विरुद्ध बात लिख गये हैं, कि श्री "रामेश्वरम्" टापू वह स्थान है जहाँ भगवान् राम ने लंका विजय से पूर्व शिवलिङ्ग की स्थापना कर शिव की पूजा की थी। मुझे लेखक के इसी वाक्य पर आपत्ति है, जिसका निराकरण आगे प्रस्तुत है।

प्रथम तो मुझे इस बात का ही बहुत खेद है, कि जिन सत्य सिद्धान्तों के लिए ऋषिवर मृत्यु पर्यन्त जूझते रहे, वही आज कपोलकल्पित तर्कहीन बातें ऋषि सिद्धान्त प्रचारक पत्रिकाओं में छपें।]

किसी भी व्यक्ति के धार्मिक, पारिवारिक, सामाजिक एवं राष्ट्रीय व्यक्तित्व के परिलक्षक उस व्यक्ति के चारित्रिक विशेषण हुआ करते हैं, तथा वे विशेषण ही सामान्य-असामान्य का भेद कराते हुए उस व्यक्ति को एक गौरवपूर्ण स्थान दिलाने में सक्षम होते हैं, अर्थात् ये विशेषण उस व्यक्ति के सम्पूर्ण जीवन की बहुमूल्य उपलब्धि होते हैं, इस विशेषता से युक्त आज जैसे हम राष्ट्रोन्नायक महर्षि दयानन्द, अमर हुतात्मा स्वामी श्रद्धानन्द, लौहपुरुष सरदार वल्लभभाई पटेल, आदि महापुरुषों को

देखते, सुनते हैं, ठीक वैसे ही नौ लाख वर्ष पूर्वोत्पन्न **'श्री राम'** के वैदिक संस्कृति से ओत-प्रोत उज्ज्वल, धवल जीवन के परिचायक, **सत्यवादी, मर्यादापुरुषोत्तम, महात्मा, कृतज्ञ, धर्मज्ञ, धार्मिक, धर्मात्मा, धर्मिष्ठ** इत्यादि विशेषणों को पाते हैं, जिन्होंने **'राम'** को विशिष्ट स्थान पर प्रतिष्ठित कर दिया है।

हर्ष-विषाद, सुख-दुःख प्रत्येक अवसर पर राम को वाल्मीकि रामायण में सत्यवादी, धर्मज्ञ, धार्मिक इत्यादि पूर्वोक्त विशेषणों से ही अभिहित किया गया है, तथाहि-

ज्येष्ठे धर्मप्रधाने च न रामं नेतुमर्हसि।

बाल० २०।१२।।

अर्थात् हे विश्वामित्र! ज्येष्ठ और धर्मप्रधान राम को नहीं ले जा सकते!

ज्येष्ठं पुत्रं प्रियं रामं द्रष्टुमिच्छामि धार्मिकम्।

अयो० १४।२४।।

अर्थात् हे कैकेयी! ज्येष्ठ पुत्र प्रिय धार्मिक राम को देखना चाहता हूँ।

विद्धि माम् ऋषिभिस्तुल्यं विमलं धर्ममास्थितम्।

अयो० १९।२०॥

अर्थात् हे माता कैकेयी! ऋषियों के तुल्य विमल और धर्म में लगा हुआ मुझे जानो।

धर्मपालो जनस्यास्य शरण्यश्च महायशाः।

अरण्य० १।१८॥

अर्थात् हे महायशस्वी! धर्मरक्षक! आप इस वन के मुनि जनों के

शरण्य हैं, पूजनीय हैं।

धर्मज्ञश्च कृतज्ञश्च कथं पापं करिष्यति।

किष्कि० १६।५॥

अर्थात् हे तारा! (मुझ बालि के प्रति) धर्मज्ञाता, कृतज्ञ राम पाप क्यों करेंगे? अर्थात् राम उचित कार्य ही करेंगे।

भवान् क्रियापरो लोके भवान् देवपरायणः।
आस्तिको धर्मशीलश्च व्यवसायी च राघव।।

किष्कि० २७।३५॥

अर्थात् हे राघव! आप नित्य कर्म के अनुष्ठाता, देवोपासक, आस्तिक, धर्मशील और उद्यमी हैं।

तस्य धर्मात्मनः पत्नीं स्नुषा दशरथस्य च।
कथं व्याहरतो मां ते न जिह्वा पाप शीर्यति।।

सुन्दर० २२।१६॥

अर्थात् हे पापी रावण! मुझ सीता जो उस धर्मात्मा की पत्नी और दशरथ की पुत्रवधू है, उसका नाम लेते हुए तुम्हारी जिह्वा नहीं कट जाती?

तच्छ्रुत्वा परमप्रीतो रामो धर्मभृतां वरः।

युद्ध० १११।६६॥

अर्थात् विभीषण के वाक्य को सुनकर धर्मधारकों में श्रेष्ठ परमप्रसन्न राम (बोले)।

इस प्रकार सम्पूर्ण रामायण में हम देखते हैं कि राम की धार्मिकता ज्वार भाटे के समान हिलोरें ले रही है, उनका प्रत्येक कदम, प्रत्येक कार्य धर्म की मर्यादा से बंधा हुआ है, वे रञ्च मात्र भी धर्म की डोरी से च्युत नहीं हैं। राम की इस धर्मज्ञता, धर्मनिष्ठा को जानने से पूर्व धर्म को जानना आवश्यक है। छान्दोग्योपनिषद् में धर्म का स्वरूप बताते हुए कहा-

त्रयो धर्मस्कन्धा यज्ञोऽध्ययनदानमिति प्रथमः।
तप एव द्वितीयो, ब्रह्मचार्याचार्यकुलवासी तृतीयः।।

छान्दो० उप० २।२३।१।।

अर्थात् धर्म के तीन स्कन्ध=अवयव भाग हैं।

प्रथम है - यज्ञ = देवयज्ञ, शुभ कर्म आदि करना

अध्ययन = ज्ञान की पराकाष्ठा को पहुँचना

दान = त्याग की प्रवृत्ति, लोभ से कोसों दूर रहना।

द्वितीय है- तप = स्वात्म पर नियन्त्रण रखते हुए निराकार ब्रह्म की उपासना करना

तृतीय है- ब्रह्मचारी = ब्रह्मचर्य व्रत धारण करते हुए अनेक कष्टों को सहकर आचार्य कुल में रहना।

उपनिषद् के इस वचन की गरिमा बड़ी गहन है, अन्य मनुस्मृति आदि धर्मशास्त्रोक्त धर्म के लक्षण इसी में समाहित हो जाते हैं। राम के जीवन में धर्म के ये तीनों स्कन्ध इतने रच-पच गये हैं, कि जिन्हें देख अन्ततोगत्वा संस्कृत कवि कह ही उठा-

"रामो विग्रहवान् धर्मः" अर्थात् राम धर्म की साक्षात् प्रतिमूर्त्ति हैं।

धर्म राम का अविभाज्य अङ्ग है, धर्म की प्रशंसा राम स्वयं करते हैं-

धर्मो हि परमो लोके धर्मे सत्यं प्रतिष्ठितम्।
धर्मसंश्रितमप्येतत् पितुर्वचनमुत्तमम्।।

अयो० २१।४१॥

अर्थात् हे कौशल्या माता! इस संसार में धर्म उत्तम है, धर्म में ही सत्य प्रतिष्ठित है, तथापि धर्म का आश्रय होते हुए भी पिता का यह वचन श्रेष्ठ है।

यहाँ पर मुझे धर्म के **प्रथम** और **तृतीय** स्कन्धों पर कुछ न लिखकर, **द्वितीय** स्कन्ध पर ध्यान दिलाना है, क्योंकि इन दो स्कन्धों को सामान्यतया आबालवृद्ध सभी जानते हैं कि राम ब्रह्मचर्य व्रत में दीक्षित होकर विश्वामित्र के साथ शिवाश्रम, सिद्धाश्रम इत्यादि आश्रमों में यज्ञ के रक्षार्थ १० वर्ष तक रहे, तथा राज्य रक्षार्थ १४ वर्ष वन में रहे। राज्य छोड़कर १४ वर्ष पर्यन्त वनवास में रहना और सुग्रीव एवं विभीषण को उनके भाइयों की मृत्यु के पश्चात्, उनके राज्य को लोष्ठवत् मान उन्हें सौंप देना, इससे बढ़कर और कौन सा दान तथा त्याग हो सकता है?

राम ने धर्म के द्वितीय स्कन्ध तप को अपनी काया के आच्छादन की भाँति अङ्गीकार किया हुआ है, चाहे अयोध्यावास हो, चाहे आश्रमवास हो, चाहे वनवास, दुःख हो या सुख, प्रत्येक परिस्थिति में उस देवाधिदेव की उपासना तथा अग्निहोत्र को नहीं भूलते, राम की इस ईश्वरभक्ति को रामायण के निम्न श्लोकों में देखा जा सकता है -

प्रभातकाले चोत्थाय पूर्वां सन्ध्यामुपास्य च ।।
प्रशुची परमं जाप्यं समाप्य नियमेन च ।।

बाल० २६। ३१,३२ ।।

अर्थात् प्रातःकाल उठकर, प्रातःकाल की सन्ध्या को करके और नियम पूर्वक परम पवित्र जप को समाप्त करके (विश्वामित्र को अभिवादन किया)।

एकयामावशिष्टायां रात्र्यां प्रतिविबुध्य सः ।।
पूर्वां सन्ध्यामुपासीनः जजाप यतमानसः[1] ।।
अयो० ६ । ५, ६ ।।

अर्थात् रात्रि के एक प्रहर के शेष रहने पर राम ने उठकर प्रातःकालीन उपासना करते हुए मन लगाकर जप किया।

उपास्य तु शिवां सन्ध्यां दृष्ट्वा रात्रिमुपागताम् ।।
अयो० ४६। १३।।

अर्थात् रात्रि होती हुई देख राम आदि ने कल्याणकारी सन्ध्या की उपासनाविधि पूर्ण की ।

नामनुष्ये भवत्यग्निर्व्यक्तमत्रैव राघवौ ।।
अयो० ९३। २२ ।।

अर्थात् सैनिकों ने भरत से कहा, मनुष्य रहित स्थान में अग्नि नहीं होती है, (अतः धूम दीखने से प्रतीत होता है) कि निश्चित रूप से यहाँ ही राम, लक्ष्मण हैं।

तात्पर्य हुआ आश्रम में यज्ञाग्नि का धूम प्रसृत हो रहा था।

एतस्मिन्नाश्रमे वासं चिरं तु न समर्थये ।
तमेवमुक्त्वोपरमं[2] रामः सन्ध्यामुपागमत् ।।
अरण्य० ७। २२ ।।

---

१. 'सुसमाहितः' इति पाठभेदः।

२. 'उपरममुपरम्य'। तिलकटीका, अरण्य० ७।२२॥

अर्थात् हे मुनि! इस सुतीक्ष्ण आश्रम में बहुत काल तक रहना नहीं चाहता, ऐसा मुनि से कहकर राम सन्ध्या में बैठ गये।

अथ तेऽग्निं सुरांश्चैव वैदेही रामलक्ष्मणौ।।
काल्यं विधिवदभ्यर्च्य तपस्विशरणे वने।।

अरण्य० ८। ३।।

अर्थात् तत्पश्चात् राम, लक्ष्मण और सीता प्रातःकाल विधिवत् अग्निहोत्र देवयज्ञ को करके आश्रम में सुतीक्ष्ण के पास पहुँचे।

भवान् क्रियापरो लोके भवान् देवपरायणः।
आस्तिको धर्मशीलश्च व्यवसायी च राघव[1]।।

किष्कि० २७। ३५।।

वाल्मीकि रामायण के ये स्थल पुकार-पुकार कर कह रहे हैं कि **मर्यादा पुरुषोत्तम राम उस निराकार सर्वान्तर्यामी प्रभु की ही उपासना करते थे एवं अग्निहोत्र की क्रिया सम्पादित करते थे। वे शिवादि मूर्त्ति के समुपासक नहीं थे।** निराकार व्यापक, कल्याणकारी उस परमात्मा के ही विष्णु, शिव इत्यादि नाम हैं। **वेवेष्टि व्याप्नोति चराचरं जगत् स विष्णुः** जो चर और अचर रूप जगत् में व्याप्त है वह विष्णु है। **शेवयति कल्याणं करोति इति शिवः** जो कल्याण स्वरूप व कल्याण करने हारा है वह शिव है। तात्पर्य हुआ इन नामों वाले निराकार परमेश्वर के ही राम समुपासक थे।

इस प्रकार इन स्फटिकवत् सुस्पष्ट स्थलों को देखते हुए कैसे कहा जा सकता है कि **एकेश्वरवादी आस्तिक, धर्मिष्ठ राम** ने दक्षिण में समुद्र को तरते हुए **रामेश्वरम्** टापू में रावण विजयार्थ सेतु बन्धन के पश्चात् शिवलिङ्ग की स्थापना कर उसकी पूजा की थी।

---

१. अर्थ पृ० १० पर देखें।

राम ने शिवलिङ्ग की स्थापना की या नहीं? इस निर्णय से पूर्व किञ्चित् निम्नलिखित बातों पर दृष्टिपात करें-

१. मूल वाल्मीकि रामायण युद्ध काण्ड के २२वें सर्ग में जहाँ पुल बाँधने की चर्चा है, वहाँ कहीं भी आगे पीछे शिवलिङ्ग की स्थापना का लेशमात्र भी व्याख्यान नहीं है।

२. जिन कूर्म, शिव, पद्म आदि पुराणों में रामचन्द्र द्वारा-

सेतुमध्ये महादेवमीशानं कृत्तिवाससम् ।
स्थापयामास लिङ्गञ्च[1] पूजयामास राघवः।।

कूर्म पु० २१।४६,४७।।

सुपुष्पकामारुह्य जलधिमुत्तीर्य पारावारतटे सेनां समवस्थाप्य शिवप्रतिष्ठां तत्र कृत्वा मुनिभिर्देवैरभ्यर्चितोऽयोध्यामगमत् ।।

पद्म पु० पुराकल्पीय रामा० ३२।

इत्यादि वचनों द्वारा शिवलिङ्ग की स्थापना, पूजा करना बताया गया है, ये सभी कथन कितने यथार्थ हैं इसकी पड़ताल उन्हीं पुराणों में कही गई, कि त्रेता अर्थात् राम के युग में मूर्त्तिपूजा नहीं थी, इस बात से भली-भाँति हो जाती है, तद्यथा-

सत्येषु मानसी पूजा देवानां तृप्तिकारिणी ।
त्रेतायां वह्निपूजा च यज्ञदानादिका क्रिया ।।
द्वापरे मूर्त्तिपूजा च देवानां वै प्रियङ्करी ।
कलौ तु दारुण्ये प्राप्ते ब्रह्मपूजनमुत्तमम् ।।

भविष्य पु० प्रतिसर्ग ३ अ० २२।११,१२।।

---

१. 'लिङ्गस्थम्' इति पाठभेदः।

अर्थात् सतयुग में मानसिक चिन्तन, त्रेता में अग्निहोत्र, यज्ञदान इत्यादि धार्मिक कार्य, द्वापर में मूर्त्तिपूजा तथा कलियुग में ब्रह्मोपासना ईश्वरों के लिए उत्तम और तृप्तिकारक होती है।

पद्मपुराण, शिवपुराण, भविष्यपुराण इत्यादि पुराणों में तो यहाँ तक कहा है कि शिव के भक्त एवं पूजक पाखण्डी, अछूत, शूद्र एवं विष्ठा के कीड़े होते हैं, तथा शिवलिङ्ग का प्रसाद विष्ठा के समान है, इत्यादि एतादृश विरोधाभास युक्त बातें इन कपोलकल्पित पुराण ग्रन्थों में भरी पड़ी हैं। शिव की पूजा और अपमान दोनों एक पलड़े पर हैं, ऐसे शिव का पूजक राम को बताना राम को अपमानित करने के अतिरिक्त क्या हो सकता है ?

पुराण, अध्यात्म रामायण तथा अपने को बाल एवं अज्ञानी कहने वाले तुलसीदास जी द्वारा रचित रामचरित मानस में बहुशः लिखा है, कि शिव जी पार्वती सहित राम का स्मरण, मनन, चिन्तन किया करते थे।

यथा-

राघवः सर्वदेवानां पावनः पुरुषोत्तमः।
स्पृष्ट्वा दृष्ट्वा तेनैव विमलाः शंकरादयः।।

पद्म पु०उ०ख०अ० २५५। १२१, १२२।।

अर्थात् राम सब देवों में पवित्र और पुरुषोत्तम हैं उन्हें ही देखकर और छूकर शंकर इत्यादि विमल होते हैं।

इदमेव सदा मे स्यात् मानसे रघुनन्दनः।
सर्वज्ञःशंकरः साक्षात् पार्वत्या सहितः सदा।।

अध्यात्म रा० अरण्य० ६। ५०।।

अर्थात् पार्वती सहित, सदा सर्वज्ञ, साक्षात् शंकररूप रघुनन्दन मेरे मानस में होवें।

एहि महँ रघुपति नाम उदारा। अति पावन पुराण श्रुतिसारा।
मंगल भवन अमंगलहारी। उमा सहित जेहि जपत पुरारी।।

रामचरित मानस बाल० दो० ६। १।।

अर्थात् इसमें श्री रघुपति का नाम उदार है, जो अत्यन्त पवित्र है, वेद पुराणों का सार है, कल्याण का भवन है, और अमंगल को हरने वाला है, **उस राम नाम को पार्वती सहित शिव जी** सदा जपा करते हैं।

इन सब प्रमाणों से सिद्ध होता है कि **'राम'** पुराण आदि में वर्णित शिव के पूजक नहीं थे, अपितु शिव ही उनके उपासक थे और राम शिव से कहीं अधिक पवित्र तथा उच्चादर्श वाले थे, अतएव शिव अपने उद्धार के लिए, कल्याण के लिए श्रीराम का जप करते हैं। राम के लिए रामायण में अनेकशः **'रक्षिता स्वस्य धर्मस्य स्वजनस्य च रक्षिता[1]'** कहा गया है, अर्थात् राम अपने चरित्र तथा अपने आत्मीय जनों के रक्षक हैं, तात्पर्य हुआ राम ने अपने चरित्र की रक्षा के लिए कोई कोर कसर नहीं उठा रखी। ऐसी स्थिति में कैसे सम्भव है कि अपने से छोटे तथा भ्रष्ट, चरित्रहीन तथाकथित शिवनामक पुरुष के लिङ्ग की स्थापना **वेद-वेदाङ्गवित्[2] पवित्र[3], धर्मात्मा[3], चरित्रवान्[4] राम ने की हो।**

श्री राम को मूर्तिपूजक बताना अपनी मूढ़ता को ही उजागर करना है। न जाने कैसे तुलसी दास इत्यादि लोगों ने राम के विषय में विरोधाभास युक्त बातें लिख दीं, फिर कोषों के बनाने वाले तथा इतिहास लेखक ऐसी तर्कहीन बातें लिखने में क्यों हिचकिचाते?

---

१. बाल० १। १४।।

२. वेदवेदाङ्गतत्वज्ञो धनुर्वेदे च निष्ठितः।। बाल० १। १४।।

३. धर्मज्ञः सत्यसन्धश्च प्रजानां च हिते रतः।
यशस्वी ज्ञानसम्पन्नः शुचिर्वश्यः समाधिमान्।। बाल०१। १२।।

४. सर्वलोकप्रियः साधुरदीनात्मा विचक्षणः ।। बाल० १। १५।।

युद्ध काण्ड के १२३ वें सर्ग के २० वें श्लोक में "महादेव" शब्द देखकर तिलक, **भूषण** इत्यादि **टीकाकारों** ने भी रामचन्द्र द्वारा शिवलिङ्ग की स्थापना का जमकर प्रतिपादन किया है। जबकि इन्होंने सेतुबन्ध के वर्णन में भी किञ्चित् मात्र भी इस विषयक चर्चा नहीं की है।

इस सन्दर्भ में **राष्ट्रोद्धारक जगद्गुरु महर्षि दयानन्द** रामचन्द्र के ऊपर थोपे गये इस असत्य कलंक को दूर करते हुए **एकादश समुल्लास** में लिखते हैं कि–

"रामचन्द्र के समय में उस लिङ्ग वा मन्दिर का नाम चिह्न भी न था। किन्तु ये ठीक है कि **दक्षिण देशस्थ राम नामक राजा[1] ने मन्दिर बनवा लिङ्ग का नाम रामेश्वर रख दिया है।** जब रामचन्द्र सीता जी को लेकर, हनुमान् आदि के साथ लंका से चले, आकाश मार्ग में विमान पर बैठ अयोध्या को आते थे, तब सीता जी से कहा कि–

अत्र पूर्वं महादेवः प्रसादमकरोत् विभुः।।
एतत्तु दृश्यते तीर्थं। सेतुबन्ध इति ख्यातम्।।

युद्ध० १२३।२०, २१।।

हे सीते! तेरे वियोग से हम व्याकुल होकर घूमते थे और इसी स्थान में चातुर्मास किया था, और परमेश्वर की उपासना ध्यान भी करते थे। वही जो सर्वत्र विभु (व्यापक) देवों का देव **'महादेव' परमात्मा है** उसकी कृपा से हमको सब सामग्री यहाँ प्राप्त हुई। और देख! यह सेतु हमने बाँधकर लङ्का में आके, उस रावण को मार, तुझको ले आये। इसके सिवाय वहाँ वाल्मीकि ने अन्य कुछ भी नहीं लिखा।"

महर्षि के ये अमृततुल्य वचन तथा इस श्लोक का **'विभु'** शब्द ही

---

१. 'रामेश्वरम्' मन्दिर के खम्भों पर जिस राजा ने इसे बनवाया, उसकी मूर्त्तियाँ अंकित हैं। उससे भी स्पष्ट है कि दशरथ पुत्र रामचन्द्र जी ने वहाँ शिवलिङ्ग की स्थापना नहीं की थी क्योंकि वे मूर्त्तियाँ रामचन्द्र के रूप वाली नहीं हैं।

बताता है कि वह देवों का देव परमात्मा साकार व एकदेशी नहीं है, अपितु वह निराकार एवं सर्वदेशी है, रामचन्द्र उसी सर्वदेशी के उपासक थे।

और तो और रामायण के सभी पात्र अयोध्यावासी, वनवासी, लङ्कावासी सभी जन उस सर्वव्यापी निराकार ईश के ही चिन्तक हैं तथा सम्पूर्ण कार्य यज्ञ से ही सम्पन्न उनके द्वारा किये गये हैं, यदि उन सबका बखान किया जाये, तो दूसरी रामायण प्रस्तुत हो सकती है। फिर राम के विषय में कहना ही क्या? जो राम अपने को ऋषि तुल्य तथा धर्म में आस्थित बताता है और सत्य की शपथ खाता हुआ- **"रामो द्विर्नाभिभाषते"** अयोध्या० १८।३०॥ की प्रतिज्ञा करता है यदि वही आस्तिक कहा ज़ाने वाला राम सम्पूर्ण जीवन में निराकार की उपासना तथा यज्ञ यागादि करने के पश्चात्, किसी निम्न क्षण में पत्थर के आगे मत्था टेक देगा एवं अपनी प्रतिज्ञा को भूल जायेगा, तो क्या उसके मत्थे असत्यवादिता का सिरमौर नहीं बँधेगा?

अतः हमें निस्संदेह मानना होगा तथा यह कलंक दूर करना होगा कि उस चरित्र नायक पुरुषोत्तम राम ने वेदादि शास्त्र विरुद्ध ऐसा घृणित कार्य नहीं किया। केवल अपने स्वार्थ के वशीभूत स्वार्थी तत्वों ने इस शिवलिङ्ग स्थापना के कार्य को राम के साथ जोड़ा है बेचारे राम को भी इस घृणित कुकृत्य से अछूता नहीं छोड़ा, क्योंकि इस प्रक्रिया से पीढ़ी, दर पीढ़ी माल चाबने को मिलेंगे और देश की पूँजी का उपभोग करते हुए मठाधीश की गद्दी बरकरार रखेंगे, यही कारण है कि आज गद्दी के आगे शिवलिङ्ग स्थापकों को न देश की चिन्ता है, न देशवासियों की।

महर्षि दयानन्द से महान् बनने की साध

ज्ञान विस्तार के विभिन्न प्रकार हैं, उन सभी में लेखन का बड़ा गुरुतर स्थान है। वर्तमान समय में प्रतियोगिता स्तर पर पुस्तकों का लेखन हो रहा है, बड़ी अच्छी बात है विद्या का प्रचार-प्रसार होना ही चाहिये, परन्तु हमारा लेखन, अथवा कोई भी अभिव्यक्ति मौलिक होने के साथ-साथ वेदादि शास्त्र प्रमाणानुकूल हो तथा युक्तिसिद्ध हो यह परम अनिवार्य है। मौलिकता मात्र अहङ्कार का ढकोसला न बन जाये, यह सावधानी रखना भी आवश्यक है। अभी हाल में[1] "**वेद और परमात्मा**" नाम्नी लघु पुस्तिका "**श्री चन्द्रगुप्त योगमुनि**" वैदिक साधना ओकः ३२२-ए, गली-४-श्री नगर कालोनी दिल्ली-३४ ने प्रकाशित की है। अपनी इस पुस्तिका में लेखक ने परमात्मा के पूर्ण स्वरूप को बताना तो दूर, परमात्मा के विराट् प्रभुत्व को प्रकट करने वाले सर्वविदित सर्वव्यापक गुण को ही तिरोहित करने का असफल प्रयास किया है, जो एक यशः लिप्सु दम्भधनी के लिये ऐसा करना उचित ही है।

सुना है लेखक सामवेद का भाष्य भी कर रहे हैं, अब देखना है उसमें कौन सा विष वमन करते हैं। लेखक प्रच्छन्न पौराणिक तथा अहंवादिता से जकड़े हुये हैं। **महर्षि दयानन्द** से बढ़कर परमात्मद्रष्टा बनना चाहते हैं - इसी साध में उपरोक्त पुस्तिका में ऋषिवर के प्रति अनर्गल एवं उद्वेलित करने वाले वाक्य लिखे हैं, यथा-

(१) "उन्हें भी अर्ध सत्य को अपनाया जाना उपयुक्त ही समझना पड़ा"।

---

१. सन् १९९४ में।

(२) "सब आत्माओं का पिता........परमधाम का निवासी है, स्वामी दयानन्द को भी सर्वव्यापक स्वीकार करना पड़ा....... इसलिये परमात्मा को अर्धसत्य के रूप में प्रस्तुत किया गया।

(३)....... **सपर्यगात्०** यजु० ४०।८ , इस मन्त्र को भी पूर्णतया न समझ कर परमात्मा को सर्वव्यापक मान लिया।

(४) .... इस मन्त्र पर विचार किये बिना ही परमात्मा को सर्वव्यापक मानने लगे।

(५) ...... इस अर्थ को न समझकर परमात्मा को कण-कण में कह दिया गया।

(६) इस श्रेष्ठ सन्देश की अवहेलना कर परमात्मा को सर्वव्यापक बता दिया।

(७) इस शुभ विचार को छोड़ परमात्मा को सर्वव्यापक कह सूअर, सर्प, कीड़े-मकोड़े में भी बता डाला। कितनी ग्लानि उस परम पिता की कर डाली।

(८) .... इस भावना को छोड़ हमने उसे सर्वव्यापक बना दिया।

लेखक को आदित्य ब्रह्मचारी परमात्मद्रष्टा महर्षि दयानन्द पर **"अर्धसत्य ग्रहण करने"** का आरोप लगाने से पूर्व वेद, उपनिषद्, स्मृति आदि शास्त्रों का अवश्य आलोडन करना था, क्योंकि परमेश्वर के स्वरूप दर्शन हेतु लेखक ने जिन वेदों के मन्त्रों को प्रस्तुत किया है, उन्हीं वेदों में परमेश्वर को सर्वव्यापक भी प्रतिपादित किया गया है। सर्वव्यापक विषयक अनेक उदाहरण प्रस्तुत किये जा सकते हैं। सामान्य रूप से निम्न प्रमाण प्रस्तुत हैं-

(१) तदन्तरस्य सर्वस्य ....। यजु० ४०।५।।

(२) ईशा वास्यमिदं सर्वं यत् किञ्च जगत्यां जगत्। यजु० ४०।१।।

(3) एको देवः सर्वभूतेषु गूढः सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा।
श्वेता० ६।११।।

(४) सर्वभूतमयोऽचिन्त्यः.............। मनु० १।७।।

यहाँ "**तदन्तरस्य**" "**ईशा वास्यम्**" पदों से वेद में परमात्मा को सर्वव्यापक ही बताया गया है। उपनिषद् का '**सर्वव्यापी**' शब्द स्पष्ट है। मनुस्मृति का "**सर्वभूतमयः**" पद भी परमात्मा को पुकार-पुकार कर सर्वव्यापक सिद्ध कर रहा है। पुनः उपर्युक्त पदों का सर्वव्यापक अर्थ न करके लेखक कौन सा नया अर्थ करेंगे? तथा जिस सामवेद का लेखक भाष्य कर रहे हैं उसी वेद में आये "**सहस्रशीर्षा**" ....। **स भूमिं सर्वतो वृत्वा**.......। सा० ६१७, इस मन्त्र के "**भूमिं सर्वतो वृत्वा**" पदों का सर्वव्यापक अर्थ न करके कौन सा नया भाष्य लिखेंगे?

परमेश्वर को सर्वव्यापक मानने पर मान्य लेखक को यह जो बहुत बड़ा भय है कि "कीड़े-मकोड़े, सूअर आदि में भी परमात्मा व्यापक माना जायेगा, तो वह दूषित हो जायेगा" यहाँ मेरा कहना है कि कीड़े-मकोड़े की ही क्या बात है, मानव शरीर तो और भी राग द्वेषादि, विष्ठादि मलिनताओं का पिटारा है वहाँ तो और भी कलुषित हो जायेगा, अतः परमात्मा का मानव शरीर में भी वास उचित नहीं है, फिर तो "**अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषो मध्य आत्मनि तिष्ठति**", कठोपनिषद् ४।१२ इस वचन को ताख में रखकर जहाँ सङ्गमरमर की बनी अद्भुत से अद्भुत मूर्त्तियाँ स्थापित हैं, वहीं परमात्मा का वास मानना आपकी दृष्टि में उपयुक्त है। वाह रे! मूर्त्तिपूजा की पुष्टि की कला।

क्या कभी जो सूर्य, मकान, पर्वत, पहाड़, नदी, नाले, विष्ठा, पङ्कादि को समान भाव से प्रकाशित कर रहा है उसे मलिन होते देखा या सुना है? पुनः उस सूर्य का नियन्ता प्रभु कैसे मलिन हो जायेगा? वह निराकार, अजन्मा आदि होते हुये भी सर्वत्र व्यापक है और व्यापक होते हुये भी उन सबसे लिप्त नहीं होता है, यथा–

सूर्यो यथा सर्वलोकस्य चक्षुर्न लिप्यते चाक्षुषैर्बाह्यदोषैः।
एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा न लिप्यते लोकदुःखेन बाह्यः।।

कठो० ५।११।।

अर्थात् जैसे सूर्य सम्पूर्ण लोक–लोकान्तरों का प्रकाशक है सबका नेत्र है, परन्तु सभी लोकों की मलिनताओं से मलिन नहीं होता है वैसे ईश्वर भी संसार के सभी प्राणियों की अन्तरात्मा में होते हुये भी प्राणियों के दुःखों से, मलिनताओं से दूषित नहीं होता है।

और जो गीता की दुहाई देते हुये लेखक ने कुछ भिन्न क्रम से **"तेषु अहं ते मयि न सन्ति" "अहं तेषु न अवस्थितः"** गीता ७।१२, ९।४, के उत्तरार्ध के आधे वाक्य प्रस्तुत किये हैं, उनके पूर्व भाग को भी नहीं भूलना चाहिये, जहाँ परमात्मा को भूतों में स्थित बताया है, यथा– **"मत्स्थानि सर्वभूतानि"** गी० ९।४, **"मत्त एवेति तान् विद्धि"** गीता ७।१२, तथा **समोऽहं सर्वभूतेषु......। .... मयि ते तेषु चाप्यहम्।।**

गीता ९।२९।।

इसमें तो स्पष्ट शब्दों में कहा है सभी भूत मुझमें हैं, मैं भी उनमें हूँ। इस प्रकार परमात्मा को सभी वेद तथा वेदानुकूल शास्त्रों में निराकार, अजन्मा, अभोक्ता आदि के साथ–साथ सर्वव्यापक भी बताया है, पुनः जिस **महर्षि ने परमात्मा की सत्ता को ही नहीं स्थित किया, किन्तु दृष्टि अगोचर परमात्मा का प्रत्यक्ष भी किया है** जिसका संकेत महर्षि ने

आर्याभिविनय, अमरग्रन्थ सत्यार्थप्रकाश आदि ग्रन्थों में बड़े दृढ़ शब्दों में किया है, जिसे पढ़कर कोई भी अर्धसत्य स्वीकार करने का आरोप लगाने का साहस ही नहीं कर सकता है। **महर्षि दयानन्द ही एक ऐसे महापुरुष हैं जिन्होंने वेदादि शास्त्रोक्त बात ही लिखी है और कही है।** उनके प्रति ऐसे अयथार्थ हास्यास्पद आरोप लगाने वेदादि शास्त्रों का अपमान करना है तथा परमात्मा की सत्ता को ही नकारना है। यदि उसे सर्वव्यापक नहीं मानेंगे तो वह जगन्नियन्ता कोठे बन्द, ताले बन्द ही तो सिद्ध होगा।

लेखक ने परमेश्वर को निराकारादि बताने के लिये जिन मन्त्रों को उद्धृत किया है, वैसे मन्त्र महर्षि दयानन्द के ग्रन्थों में भरे पड़े हैं, यह उन्हें ज्ञात होना चाहिये, परमेश्वर को सर्वव्यापक नहीं मानेंगे तो परमात्मा एकदेशी हो जायेगा और सर्वशक्तिमान् भी नहीं रहेगा, पुनः वह कैसे सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड का कर्त्ता धर्त्ता बन सकता है? जो सर्वव्यापक होगा वही सर्वशक्तिमान्, सर्वज्ञादि विशेषणों से कहे जाने योग्य हो सकता है।

परमेश्वर को सर्वव्यापक मानने पर ही अभोक्ता, जन्म-मरण से रहित, निराकारादि नामों से कहे जाने वाले परमात्मा की अनुभूति भी कर पायेंगे, अन्यथा मात्र शब्द जाल ही पल्ले पड़ेगा, अतः वेदादि प्रमाण विरुद्ध बातें लिख कर जनसाधारण को भरमाना बहुत बड़ा अपराध है। ऋषि-महर्षियों की जांच करने से पूर्व अपने ज्ञान की थाह अवश्य करनी चाहिए। अपने अपूर्ण ज्ञान को 'इदमित्थम्' सिद्ध करना अपनी ज्ञानलिक्षा को सिद्ध करना है।

योगमुनि जी का हठवाद

सार्वदेशिक ४ फरवरी १९९६ के अंक में चन्द्रगुप्त योगमुनि का 'विचारणीय लेख' इस लघु शीर्षक के साथ **'क्या वेद का परमात्मा सर्वव्यापक है'** लेख पढ़ा। लेखक ने 'विचारणीय लेख' का जामा पहनाकर परमात्म भक्तों एवं ऋषि भक्तों को दिग्भ्रान्त करने की चाल चली है। अविद्या कोटि के अपने थोथे ज्ञान से दूसरों को भी संयुक्त करने का इनका बहुत बड़ा दुराग्रह रहा है। सन् १९९४ में **'वेद और परमात्मा'** नामक अपनी लघु पुस्तिका में योगमुनि जी ने परमात्मा सर्वव्यापक नहीं है यह सिद्ध करने के लिये एड़ी चोटी का जोर लगाकर जगद्गुरु महर्षि दयानन्द की त्रुटियों का अम्बार लगाया था, जिसका तभी करारा उत्तर मैंने **'महर्षि दयानन्द से महान् बनने की साध'** लेख के माध्यम से दिया था। और वैदिक युक्ति प्रमाणों से परमात्मा के व्यापकत्व की सिद्धि की थी। अब पुनः दो ढाई वर्ष पश्चात् उसी विषय को प्रकारान्तर से उपर्युक्त लेख के माध्यम से चर्चा का विषय आपने बनाया है। आश्चर्य है मान्य लेखक के पास अपनी नयी ऊहा तथा गवेषणा के रूप में कोरा अज्ञान ही है, जिसके वशीभूत हो वेदादिशास्त्र प्रतिपादित सिद्धान्तों तथा जगद्गुरु महर्षि दयानन्द के पीछे आप पड़े हैं।

लेखक के 'क्या वेद का परमात्मा सर्वव्यापक है' इस वञ्चनापूर्ण प्रश्न की विवेचना से पूर्व निम्नलिखित वेद प्रतिपादित सिद्धान्तों की आवृत्ति कर लेना परमावश्यक है –

१. **परमात्मा निराकार है, वह अवतार नहीं लेता है तथा निराकार होने से सर्वशक्तिमान् = सर्वशक्तिस्वरूप है।**

२. **परमात्मा तथा जीवात्मा भिन्न-भिन्न दो चेतन सत्तायें हैं।**

३. **परमात्मा, जीवात्मा तथा प्रकृति पृथक्-पृथक् तीन अनादि सत्तायें हैं।**

४. **परमात्मा सर्वत्र व्यापक है।**

५. **परमात्मा विभु है जीवात्मा अणु है।**

६. **सूक्ष्म वस्तु ही व्यापक हो सकती है, स्थूल वस्तु नहीं।**

७. **यह संसार जो परमात्मा के द्वारा देखा जा रहा है वह तथा हृदय एवं जीवात्मा द्वारा ब्रह्म का दर्शन अर्थात् अनुभूति करने का नाम ही ब्रह्मलोक है।**

८. **स्थानविशेष ब्रह्मलोक नहीं है।**

९. **परमात्मा द्रष्टा है और जीवात्मा भोक्ता है।**

लेखक का मानना है कि परमात्मा सर्वव्यापक नहीं है उसकी शक्ति व्यापक है तथा परमात्मा किसी अन्य लोक का वासी है। अपने इस मन्तव्य की सिद्धि के लिये दुराग्रह पूर्ण वाग्जाल का पिटारा आपने लेख में प्रस्तुत किया है। लेखक के जीवनभर के संजोये गये इस शंका रूपी बखेड़े के समाधान के लिये अथर्ववेद का यह छोटा सा मन्त्र पर्याप्त है। मन्त्र इस प्रकार है –

व्याप पूरुषः।

अथर्व २०।१३१।१७।।

अर्थात् वह परम पुरुष सर्वत्र व्यापक है। परमेश्वर के सर्वव्यापकत्व को सिद्ध करने वाले इस छोटे से मन्त्र ने लेखकं के शंका महल को धराशायी कर उन्हें बगलें झाँकने के लिये विवश कर दिया है। स्वतः प्रमाण सिद्ध वेद के इस प्रबल प्रमाण के रहते परमात्मा के सर्वव्यापकत्व की सिद्धि

के लिए किन्हीं अन्य शास्त्र प्रमाणों की, युक्तियों की आवश्यकता नहीं है।

विचारणीय प्रश्न नहीं! वाग्जाल-

लेखक के वाग्जाल का भी दिग्दर्शन करें -

१. परमपिता परमात्मा को सर्वव्यापक कहना एक भावना है सिद्धान्त नहीं।

२. आप सर्वव्यापकता का निषेध करने पर चौंके नहीं, ---हमारा मन जिस अवस्था को मानता है उसे मानने दीजिये।

३. ----- इस प्रकार वेद का परमात्मा सर्वव्यापी नहीं है।

४. व्याप धातु परमात्मा के साथ लगाना ठीक नहीं है उसकी शक्ति के साथ ही ठीक है।

५. ----- परमात्मा की आत्मा भी मनुष्य की आत्मा के समान ही है।

थोड़ा सोचें यह लेखक का वाग्जाल है या प्रश्न? मैं, बुद्धिमान् लेखक से पूछना चाहती हूँ, जब आपने वेदों का मन्थन किया तब किस साधना के वशीभूत हो निम्नलिखित मन्त्रों को अनदेखा कर दिया, मन्त्र भाग हैं-

१. प्रजां च लोकं च आप्नोति तथा सप्त ऋषयो विदुः।

अथर्व० ४।११।६।।

अर्थात् वह परमात्मा प्रजा तथा लोकों में व्याप्त हो रहा है, जिसका चक्षुरादि सात ऋषि प्रत्यक्ष करते हैं।

२. आ घ त्वावान् त्मनाप्तः।

ऋ० १।३०।१४।।

अर्थात् वह परमात्मा अपने आप (बिना सहायता के) व्याप्त है।

3. सऽओतः प्रोतश्च विभूः प्रजासु।

यजु० ३२।८॥

अर्थात् वह परमात्मा उत्पन्न होने वाले जीवात्मा तथा प्रकृति में व्यापक हो रहा है।

इन मन्त्रों में **'आप्लृ व्याप्तौ'** धातु से निष्पन्न **'आप्नोति'** तथा **'आप्तः'** प्रयोग हैं, वे स्पष्ट घोष कर रहे हैं कि परमपिता परमात्मा सर्वव्यापक है। लेखक चाह कर भी इन पदों के व्यापक अर्थ को किसी प्रकार झुठला नहीं सकते। **'विभूः'** पद स्पष्ट ही है। **इस प्रकार निःसन्देह वेद का परमात्मा सर्वव्यापक है।**

लेखक ने **'व्याप'** धातु लिखी है। धातु शब्दकोष में व्याप् धातु नहीं है। व्याप् शब्द वि उपसर्ग पूर्वक **'आप्लृ व्याप्तौ'** धातु का संघात रूप है। दुर्जन सन्तोषन्याय से व्याप् धातु मान भी लें, तो भी किस हेतु से लेखक का यह कथन मान लिया जाये कि परमात्मा के साथ व्याप् धातु लगाना ठीक नहीं है। जबकि **'व्याप पूरुषः'** अथर्व० २०।१३१।१७, इस मन्त्र में स्पष्ट शब्दों में परमात्मा के साथ वि उपसर्ग पूर्वक **'आप्लृ व्याप्तौ'** धातु का प्रयोग किया गया है। लेखक के अनुसार यदि परमात्मा तथा मनुष्यात्मा समान है तो क्यों नहीं मनुष्यात्मा भी परमात्मा की तरह सृष्टि, उत्पत्ति, प्रलयादि जो बृहत्तम कार्य हैं उन्हें करता है? तथा परमात्मा आनन्दमय है तो मनुष्यात्मा क्यों दुःखी रहता है? मनुष्य को भी सदा परमेश्वर के सदृश आनन्द ही आनन्द होना चाहिये। पर ऐसा नहीं होता, अतः जीवात्मा का सृष्ट्यादि का कार्य करने में असामर्थ्य[1] होने से तथा जीवात्मा को पूर्णानन्द की प्राप्ति न होने से स्पष्ट है कि परमात्मा तथा जीवात्मा एक नहीं हैं दोनों भिन्न-भिन्न

१. जगत् व्यापारवर्जं प्रकरणात् असन्निहितत्वाच्च, वेदा०द० ४।४।१७।।

सत्तायें हैं। दोनों के सामर्थ्य में भेद होने से जीवात्मा तथा परमात्मा का सादृश्य नहीं दिखाया जा सकता अतः लेखक का यह कहना कि "जीवात्मा के सदृश परमात्मा सर्वव्यापक नहीं हो सकता" मात्र वाग्जाल है।

लेखक की ऐन्द्रजालिकता –

योगमुनि जी अपने लेख में प्रतिपादित करते हैं कि –

१. वास्तव में वह परमात्मा तो परम धाम अर्थात् ब्रह्मलोक का रहने वाला है।

२. रक्षार्थ आवाहन करने से, पुकारा जाने से प्रतीत होता है कि वह कहीं अन्यत्र रहता है।

यहाँ लेखक ने यह सिद्ध किया है कि परमात्मा सर्वव्यापक नहीं है वह किसी एक देश विशेष ब्रह्मलोक में रहता है। तथा अपने उस अपूर्व ब्रह्मलोक की कल्पना के लिये **'नाकस्य शर्मणि तस्थौ'** साम० ५१, **'तत्परमधाम प्रवोचेत्'** अथर्व २।१।२, **'परमेषु धामसु वि राजति'** अथर्व ६।३६।३, के मन्त्र उद्धृत किये हैं। यहाँ उद्धृत मन्त्रों में इन योगमुनि महाराज ने वेदमन्त्रों को तथा प्रकरण को मनमाने ढंग से तोड़ मरोड़ कर आधा रखकर, आधा उड़ाकर असैद्धान्तिक तथ्य को सिद्ध करने का धोखे बाजी से प्रयास किया है किन्तु प्रस्तुत मन्त्रों के पूर्वापर प्रकरण को देखने से लेखक की एक देश-विशेष संज्ञा वाले ब्रह्मलोक की कल्पना खपुष्पवत् असत्य हो जाती है। योगमुनि द्वारा उद्धृत मन्त्र वस्तुतः इस प्रकार है :-

'अनु मातरं पृथिवीं वि वावृते तस्थौ नाकस्य शर्मणि' ।

साम० ५१।।

मन्त्र का देवता अर्थात् प्रतिपाद्य विषय अग्नि है। मन्त्रार्थ है, वह अग्निस्वरूप परमात्मा **मातरं पृथिवीं**=माता पृथिवी को, **अनु**=सदृश

(**अन्विति सादृश्यापरभावम्**, निरु० १।३) अर्थात् पूर्वकल्प के समान अथवा प्रत्येक प्रलय के पश्चात्, **वि वावृते**= वर्तन करता है अर्थात् निर्माण करता है। और, **नाकस्य**=सुख विशेष (**कमिति सुखनाम तत्प्रतिषिद्धं प्रतिषिध्येत**, निरु०२।४।१४, **कम्, न कम् अकम्, न अकम् = नाकम् अर्थात् दुःख रहित**) के, **शर्मणि**=आश्रय में, **तस्थौ**=स्थित है।

इस प्रकार मन्त्र का तात्पर्य यह हुआ कि परमात्मा इस जगत् का निर्माण करता है तथा इसी जगत् में रहता है तथापि जगत् के सुख दुःख से लिप्त नहीं होता है, वह अपने ही पूर्णानन्द में निमग्न रहता है। इस मन्त्र में 'सर्प, शूकर, कीड़े, मकोड़े में भी परमात्मा कैसे विद्यमान है वह सदा पवित्र है' लेखक की इस बहुत बड़ी शंका का भी उत्तर निहित है। मन्त्र में किसी लोक विशेष का निर्देश नहीं है।

द्वितीय मन्त्र का प्रथम चरण इस प्रकार है :-

२. 'प्र तद् वोचेदमृतस्य विद्वान् गन्धर्वो धाम परमं गुहा यत्'॥
अथर्व० २।१।२।।

अर्थात् **गन्धर्वः विद्वान्** = वाणी को धारण करने वाला विद्वान्, **तत् अमृतस्य**= उस अविनाशी अमरणधर्मा परब्रह्म का, **परमं धाम**=परम धाम, **यद् गुहा**= जो हृदय है, उसका **प्र वोचेत्** =उपदेश करें।

मन्त्र में **'परमं धाम'** पद का गुहा पद विशेषण है। वह गुहा पद परमात्मा के निवास स्थान का सुस्पष्ट निर्देश कर रहा है जो हृदय का वाचक है क्योंकि **'इदं गुहेव तत् हृदयम्'** शत0ब्रा० ११।२।६।५, के इस वचन में गुहा संज्ञा हृदय की बतायी गई है। इस प्रकार सिद्ध हो गया कि उस परमात्मा का निवास स्थान हृदयाकाश है, कोई अपूर्व ब्रह्मलोक नहीं। ध्यातव्य तथ्य यह है कि उक्त उद्धरण के इस मन्त्र में लेखक ने गुहा पद को छोड़कर अपूर्व ब्रह्मलोक की कल्पना की है।

तृतीय मन्त्र इस प्रकार है -

३.'अग्निःपरेषु धामसु कामो भूतस्य भव्यस्य।सम्राडेको विराजति'।

अथर्व० ६।३६।३

मन्त्र का देवता अग्नि है। **एकः कामः अग्निः सम्राट्** = वह अकेला कमनीय अग्नि सबका राजा परमात्मा, **भूतस्य भव्यस्य**= बीते हुए तथा होने वाले, **परेषु धामसु**= जो दूर-दूर धाम=स्थान हैं उनमें, **वि राजति**=विविध प्रकार से दीप्त होता है अर्थात् वह परमात्मा प्रत्येक सृष्टि में होने वाले अपनी-अपनी निश्चित सुदूर अवधि में स्थित जो पृथिव्यादि लोक हैं उनमें प्रकाशित होता है। मन्त्र में पृथिव्यादि लोकों को ही परमात्मा का धाम बताया गया है। लेखक ने यहाँ इस मन्त्र के प्रकरण को छोड़कर अदृश्य ब्रह्मलोक की चर्चा की है, जो उचित नहीं है क्योंकि धाम के ये अर्थ हैं -

धामानि त्रयाणि भवन्ति स्थानानि नामानि जन्मानीति।

निरु० ९।३।२२॥

अर्थात् स्थान, नाम और जन्म तीन धाम होते हैं। तात्पर्य हुआ स्थान, नाम और जन्म ये तीनों पृथिवी आदि लोकों के भीतर ही हैं इन लोकों से अन्यत्र नहीं, अतः ब्रह्मलोक इन तीन लोकों में ही है।

ब्रह्मलोक का अर्थ -

ब्रह्मलोक = ब्रह्मदर्शन। ब्रह्मलोक शब्द ब्रह्मन् तथा लोक शब्द के समस्त होने पर निष्पन्न होता है। लोक शब्द **'लोकृ दर्शने'** धातु से कर्मादि अर्थों में प्रत्यय होकर सिद्ध हुआ है। उपर्युक्त मन्त्रों के अनुसार-

१. **ब्रह्म परमेश्वरः यत्र लोक्यते दृश्यते स ब्रह्मलोकः।**

अर्थात् जिस स्थान में परमात्मा का दर्शन होता है वह ब्रह्मलोक है, योगी के हृदय में परमात्मा का दर्शन होने से **हृदय ब्रह्मलोक है।**

२. **ब्रह्म=परमात्मा विदुषा लोक्यते दृश्यते इति ब्रह्मलोकः अर्थात् परमात्मा ब्रह्मलोक है।** विद्वान् के द्वारा परमात्मा का दर्शन होता है।

३. **ब्रह्मणा परमेश्वरेण लोक्यते दृश्यते द्योत्यते वा यः स ब्रह्मलोकः।**

अर्थात् यह सम्पूर्ण नामात्मक, रूपात्मक जगत् परमपिता परमेश्वर के द्वारा देखा जाता है, प्रकाशित किया जाता है, **अतः यह जगत् ब्रह्मलोक है। इस प्रकार यह सिद्ध हुआ कि परमात्मा एवं उभयात्मक जगत् तथा हृदय ब्रह्मलोक है।**

यहाँ लेखक उपर्युक्त ब्रह्मलोक की व्याख्या मानें न मानें किन्तु अपने सायणाचार्य को तो मानेंगे ही, यथा–

"स्तुता मया वरदा" अथर्व० १६।७१।१, में आये ब्रह्मलोक शब्द, का अर्थ सायणाचार्य ने **'ब्रह्मणो लोकः सत्यलोकः ब्रह्मैव वा लोकः लोक्यमानं विद्वद्भिरनुभूयमानं परतत्वम्'** अर्थात् ब्रह्म का लोक सत्यलोक है अथवा विद्वानों द्वारा लोक्यमान परतत्व ही ब्रह्मलोक है, इन शब्दों में किया है। सायणाचार्य ने यहाँ सत्यता को तथा परब्रह्म को ही ब्रह्मलोक बताया है, किसी देश विशेष को ब्रह्मलोक नहीं कहा है।

और जो लेखक को **'अग्न आ याहि साम० १,** आदि मन्त्रों द्वारा प्रभु को पास बुलाना देखकर परमात्मा के कहीं अन्यत्र रहने की शंका हुई है, वह सर्वथा हास्यास्पद है। भला बताइये! जो हम सबका मन है और वह हमारे अन्दर है वह अन्यत्र नहीं जा सकता है यह हम भली प्रकार जानते हैं, पुनरपि **यत्ते यमं वैवस्वतं मनो जगाम दूरकम्। तत्त आ वर्त्तयामसीह क्षयाय जीवसे।।** आदि मन्त्रों से ऋग्वेद के १० वें मण्डल के ५८ वें सम्पूर्ण सूक्त के द्वारा मन को लौटाया गया है। वस्तुतः यहाँ मन का शरीर से निकल जाना या उसे लौटाये जाने का तात्पर्य नहीं है अपितु मन का अपेक्षित विचार में न होना ही दूर जाना है तथा अपेक्षित विचारों में संयुक्त करना ही लौटाना है।

इसी प्रकार परमात्मा को भी जब हमारी चञ्चल वृत्तियाँ हमारे अन्दर रहने वाले परमात्मा को दूर कर देती हैं, यही परमात्मा का दूर जाना है तथा मन एवं आत्मा के द्वारा अपने भीतर परमात्मा का अनुभव करना ही परमात्मा को समीप बुलाना है। इसी रहस्य को **'तद्दूरे तद्वन्तिके'** यजु० ४०। ५ मन्त्र स्पष्ट शब्दों में उद्घाटित कर रहा है।

योगमुनि जी की मनघड़न्त परमेश्वर शब्द की व्याख्या-

लेखक का मानना है कि **'त्रैतवाद में आत्मा परमात्मा और प्रकृति की इन तीनों शक्तियों को मिलाकर ही उसे परमेश्वर कहा जाता है'**। लेखक ने इन पंक्तियों को लिखकर त्रैतवाद के मूलभूत सुस्पष्ट सिद्धान्त को अपनी अज्ञानता से ओझल कर दिया है, जब कि -

> **द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परि षस्वजाते।**
> **तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्यनश्नन्नन्यो अभि चाकशीति।।**
>
> ऋ० १।१६४।२०।।

इस मन्त्र के **'अन्यः, अन्यः'** एवं **'पिप्पलम्'** ये तीनों पद तथा वेद के अन्य मन्त्र परमात्मा आत्मा एवं प्रकृति की पृथक्-पृथक् सत्ता का निर्देश दे रहे हैं।

शक्ति तथा शक्तिमान्-

शक्ति शब्द **'शक्लृ शक्तौ'** धातु से **'क्तिन् प्रत्यय'** करके निष्पन्न होता है जिसका अर्थ है सामर्थ्य। भूम्नि= बहुत्व अर्थ में मतुप् होकर शक्तिमान् शब्द बनता है। अर्थ है बहुत सामर्थ्य सम्पन्न। जो साकार पदार्थ हैं उनमें शक्ति तथा शक्तिमान् का पृथक्-पृथक् रूप से बोध किया जाता है पर जो निराकार पदार्थ हैं उनमें पृथक्ता से बोध करना असम्भव है। परमात्मा निराकार है साकार नहीं। किन्तु योगमुनि जी अपने लेख में यथारुचि यथाप्रयोजन ईश्वर को कहीं साकार कहीं निराकार मानकर परमात्मा में शक्ति

तथा शक्तिमान् का भेद करने की चेष्टा में लगे हैं, जब कि यजुर्वेद का यह मन्त्र परब्रह्म को निराकार ही कहता है-

'स पर्यगाच्छुक्रमकायम्' यजु० ४०।८, इस प्रकार निराकार परमात्मा में पृथक्-पृथक् शक्ति तथा शक्तिमान् का बोध करना अल्पमतित्व का ही परिचायक कहा जायेगा। परमात्मा निराकार होने से शक्तिस्वरूप है, अतः परमात्मा को कहने में शक्ति तथा शक्तिमान् ये दोनों शब्द पर्यायवाची ही हैं।

एक और चमत्कार -

लेखक **योऽवरे ...... ब्रह्मणस्पतिः**, ऋ० २।१४।११, इसको भी उद्धृत करके मन्त्र में कहीं न दिखाई दे रहे कलियुग, सतयुग शब्द को स्वमनसा खींचकर ले आये हैं। यहाँ वे 'कलियुग के अन्त में' तथा 'सतयुग में' यह लिखकर कलियुग तथा सतयुग के देवी देवताओं के ताम-झाम दिखाने में तो सिद्धहस्त हो गये परन्तु परमात्मा की सर्वव्यापकता का बखान करने वाले मन्त्र में पठित **'विभु'** शब्द का सीधा अर्थ व्यापक करने में चकरा गये। वेद में व्याख्यात **धाता, विधाता, द्रष्टा आदि परमात्मा के गुणों को देखते** हुवे, उसके सर्वव्यापकत्व को नकारना नितान्त असम्भव है। परमात्मा के सर्वव्यापक होने पर ही उसका विश्वकर्तृत्वादि सम्भव है। सर्वव्यापकता का बखान करने वाले वेदमन्त्रों की विपुल संख्या है। लेखक द्वारा प्रस्तुत मन्त्र भी परमात्मा की व्यापकता को ही उजागर कर रहे हैं।

वस्तुतः योगमुनि जी को मन्त्रार्थद्रष्टा बनने की साध है पर मन्त्रार्थ की विधि 'त्रिविध-प्रक्रिया' से वे सर्वथा अछूते हैं तथा **'अपि श्रुतितोऽपि तर्कतः, न तु पृथक्त्वेन मन्त्रा निर्वक्तव्याः प्रकरणश एव तु निर्वक्तव्याः'** निरु० १३।१०, इस यास्क महर्षि द्वारा निर्दिष्ट मन्त्र निर्वचन प्रक्रिया से भी वे अनभिज्ञ हैं, अतः मन्त्रों का वे मनचाहा अर्थ करते जाते हैं किन्तु हमें ध्यान रहे- **बिभेत्यल्पश्रुतात् वेदो मामयं प्रहरिष्यति।**[1]

१. महा० आदि० १।६८॥

'इति-ह-आस' कवि की कल्पना नहीं

उस दिन पत्रिकायें पलटते हुए **सत्यसुधा** मासिक पत्रिका का मई मास १९९७ का अंक हाथ लगा। जिसमें **क्या मैत्रेयी, याज्ञवल्क्य आदि काल्पनिक हैं,** शीर्षक से **सुश्री प्रियम्वदा वेद भारती जी द्वारा "आर्य कोविदों के विचारार्थ"** यह जिज्ञासा प्रस्तुत की गई है। वस्तुतः यह मात्र दिमागी उलझन है, जो हमें पाश्चात्यों से विरासत में प्राप्त हुई है, और इन्हीं विचारों से प्रभावित सज्जन ही यह कहने में भी नहीं चूकते कि रामायण, महाभारत ऐतिहासिक काव्य नहीं हैं, कल्पनामात्र हैं। हमारे प्राचीन गौरव को समाप्त करने की यह नितान्त दुरभिसन्धि है, जिससे हमें सावधान रहना हैं, प्रश्नगत संदर्भ का निम्नलिखित समाधान मेरी दृष्टि से इस प्रकार है -

महर्षि गौतम ने न्याय दर्शन में सत्यासत्य के निर्णय के लिये प्रत्यक्षादि ८ प्रमाणों को गिनाया है, जिनमें चौथा प्रमाण **शब्द प्रमाण** है और शब्द की परिभाषा 'गौतम महर्षि' ने इस प्रकार की है -

आप्तोपदेशः शब्दः।

न्याय० १।१।७।।

इस सूत्र का भाष्य करते हुये महर्षि दयानन्द जी लिखते हैं - "जो आप्त अर्थात् पूर्ण विद्वान्, धर्मात्मा, परोपकारप्रिय, सत्यवादी, पुरुषार्थी, जितेन्द्रिय पुरुष जैसा अपने आत्मा में जानता हो और जिससे सुख पाया हो, उसी के कथन की इच्छा से प्रेरित सब मनुष्यों के कल्याणार्थ उपदेष्टा हो अर्थात् जितने पृथिवी से लेके परमेश्वर पर्यन्त पदार्थों का ज्ञान प्राप्त होकर उपदेष्टा होता है। जो ऐसे पुरुष और पूर्ण आप्त परमेश्वर के उपदेश वेद हैं, उन्हीं को शब्द प्रमाण जानो"।

सत्यार्थ० तृ०पृ० ५३।।

तात्पर्य निकला कि सैद्धान्तिक उलझनों का समाधान आप्तों का आप्त परमात्मा द्वारा प्रदत्त वेद है तथा अन्य बातों के सत्यासत्य के निर्णय के लिये ब्रह्मा से लेकर महर्षि दयानन्द पर्यन्त आप्तजनों के वचन प्रमाण हैं।

महर्षि दयानन्द ने भ्रमोच्छेदन में लिखा है -

केन से लेकर बृहदारण्यक पर्यन्त ९ नव उपनिषद् ब्राह्मणान्तर्गत होने से उनकी भी इतिहास आदि संज्ञा **'ब्राह्मणानीतिहासान् पुराणानि कल्पान् गाथा नाराशंसीरिति'** तैत्तिरीय आ० २।९ वचन से है।

दयानन्द लघु ग्रन्थसंग्रह पृ० २६१।।

सत्यार्थप्रकाश एकादश समुल्लास में इतिहास पुराणादि किनकी संज्ञायें है, यह बताते हुये महर्षि लिखते हैं - ऐतरेय, शतपथ, साम और गोपथ ब्राह्मण ग्रन्थों के ही इतिहास, पुराण, कल्प, गाथा, और नाराशंसी यह पाँच नाम हैं।

पृ० ३१२।।

इसी प्रकार भ्रमोच्छेदन में महर्षि लिखते हैं- ब्राह्मणों में जमदग्नि आदि देहधारियों का नाम यों है कि जहाँ-जहाँ ब्राह्मण ग्रन्थों में उनकी कथा लिखी है, वहाँ-वहाँ जैसे देहधारी मनुष्यों का परस्पर व्यवहार होता है वैसा उनका भी लिखा है। इसलिये वहाँ देहधारी का ग्रहण करना योग्य है।

दयानन्द लघु ग्रन्थसंग्रह पृ० २६० ।।

महर्षि के कथनानुसार बृहदारण्यकोपनिषद् इतिहास है। इतिहास कदाचिदपि काल्पनिक नहीं होता, क्योंकि इतिहास की व्युत्पत्ति भाष्यकार स्कन्द ने इस प्रकार की है, इति + ह + **एवमासीत्**[1] = ऐसा पहले था।

---

1. स्कन्द निरु० २।३।१॥

महर्षि के वचनों से सुस्पष्ट है कि उपनिषदों में आये याज्ञवल्क्य, मैत्रेयी, कात्यायनी नाम काल्पनिक नहीं अपितु व्यक्ति विशेषों के नाम हैं। स्वयं महर्षि दयानन्द ने इन व्यक्ति विशेषों के नामों का अपने ग्रन्थों में बड़े ही आदर से उल्लेख किया है । यथा –

१. गार्गी, सुलभा, मैत्रेयी, कात्यायनी आदि बड़ी-बड़ी सुशिक्षित स्त्रियां होकर बड़े-बड़े ऋषि-मुनियों की शंकाओं का समाधान करती थीं।

पूना प्रवचन ३, पृ० २० ।।

२. महर्षि याज्ञवल्क्य अपनी स्त्री मैत्रेयी से कहते हैं कि हे मैत्रेयि! जो परमेश्वर आत्मा अर्थात् जीव में स्थित और जीवात्मा से भिन्न है जिसको मूढ़ जीवात्मा नहीं जानता कि वह परमात्मा मेरे में व्यापक है, जिस परमेश्वर का जीवात्मा शरीर अर्थात् जैसे शरीर में जीव रहता है वैसे ही जीव में परमेश्वर व्यापक है, जीवात्मा से भिन्न रहकर जीवन के पाप पुण्यों का साक्षी होकर उसके फल जीवों को देकर नियम में रखता है, वही अविनाशी स्वरूप तेरा भी अन्तर्यामी आत्मा अर्थात् तेरे भीतर व्यापक है, उसको तू जान। क्या कोई इत्यादि वचनों का अन्यथा अर्थ कर सकता है?

सत्यार्थ० सप्त० पृ० १८३।।

३. याज्ञवल्क्य कहते हैं कि हे मैत्रेयि ! मैं मोह से बात नहीं करता,किन्तु आत्मा अविनाशी है जिसके योग से शरीर चेष्टा करता है।।

सत्यार्थ० द्वा० पृ० ३८१।।

जरा सोचें कि महर्षि याज्ञवल्क्य, मैत्रेयी आदि नाम यदि काल्पनिक होते तो उन्हें प्रमाण रूप में बार-बार उद्धृत नहीं किया जा सकता, क्योंकि

काल्पनिक वस्तु का यथार्थ जगत् नहीं होता, वह तो कल्पना लोक की ही वस्तु होती है। महर्षि दयानन्द ने इन नामों को आदर्शभूत प्रमाण रूप में याद किया है अतः सिद्ध है कि ये नाम काल्पनिक नहीं हैं। महर्षि से ऊपर हमारे लिये कोई प्रमाणकोटि में नहीं है, इसे हम सभी स्वीकार करते हैं। महर्षि वचनों पर अनास्थावान् ही इन नामों को काल्पनिक बता सकते हैं।

आगे बृहदारण्यकोपनिषद् में जहाँ याज्ञवल्क्य की दो पत्नियों का नाम आया है- **अथ ह याज्ञवल्क्यस्य द्वे भार्ये बभूवतुः मैत्रेयी च कात्यायनी च तयोर्ह मैत्रेयी ब्रह्मवादिनी बभूव स्त्रीप्रज्ञैव तर्हि कात्यायन्यथ ह याज्ञवल्क्योऽन्यद् वृत्तमुपाकरिष्यन् ।।**

बृहदा० उप० ४।५।१॥

यहाँ किन्हीं भी व्याख्याकारों ने इस स्थल में आये इन तीनों नामों की कोई काल्पनिक व्याख्या नहीं की है। चाहे वह शांकर भाष्य हो या आनन्दगिरी कृत टीका हो।

अब रही बात यह कि यदि याज्ञवल्क्यादि को काल्पनिक नहीं मानेंगे तो बहुपत्नीवाद को बढ़ावा मिलता है। यह भी कथन मात्र ही है क्योंकि याज्ञवल्क्य ऋषि द्वारा दो पत्नियों का रखना या न रखना हमारी आचार संहिता नहीं बन सकती। हमारे लिये तो वेद तथा वैदिक शास्त्रों के आदेश ही सर्वोपरि हैं, जहाँ कि एक पत्नीव्रत रहने की ही मर्यादा बताई है। अपवादस्वरूप किन्हीं ऋषियों के वेदविरुद्ध व्यवहार, कदाचित् परिस्थितिवश या व्यक्तिगत दुर्बलतावश कुछ देखे गये हों तो वे **''यान्यस्माकं सुचरितानि तानि त्वयोपास्यानि नो इतराणि''** इस तैत्तिरीयारण्यक[1] के वचनानुसार त्याज्य हैं ग्राह्य नहीं, यही हमें समझना चाहिये ।

1. तैत्ति० आ० ७।११।१॥

अच्छाइयों का एक सम्पूर्ण नाम - आर्य

आज जितना यह सच है कि आर्य शब्द का तथा आर्यों के कार्यों का जितना प्रचार-प्रसार विश्व में है, उतना अन्य किसी भी विचारधारा का नहीं, उतना ही यह भी सच है कि विश्व के लोगों के लिये 'आर्य' शब्द एक पहेली बना हुआ है। तदनुसार आर्यों के आचार-विचार, आहार-विहार, रहन-सहन आदि की बड़ी-बड़ी कल्पनायें की गई हैं। जिनके आधार पर कभी तो आर्यों के देश की सीमा बताई जाती है, उनके मूल निवास को जतलाया जाता है, उनके शारीरिक बनावट आदि का खुलासा किया जाता है, तो कभी उनके खान-पान को उजागर किया जाता है तथा उनके बौद्धिक विकास का सविस्तर वर्णन प्रकाशित किया जाता है, पर यह संसार अभी तक कोई निश्चय नहीं कर पाया, आखिर यह 'आर्य' नाम की क्या बला है?

इसके स्पष्ट कारण हैं -

१. मुगलीय शासन

तथा

२. ब्रिटिश साम्राज्य एवं उनके द्वारा प्रदत्त पाश्चात्य शिक्षा पद्धति

इस पाश्चात्य शिक्षा पद्धति ने हमारी बौद्धिक क्षमता का इस कदर ह्रास किया, कि हम उदारता से सोचने समझने के लायक भी न रहे। हम भूल गये अपने गौरवमय इतिहास को, अपने देश तथा अपने नाम को, और भूल गये, ज्ञान के स्रोत चारों वेद सृष्टि के आदि में प्राप्त हुये इस सिद्धान्त को। इस बौद्धिक ह्रास के कारण आज का लेखन अपनी मौलिकता प्रदान करने में असमर्थ है। बस! ऐसा हुआ होगा, ऐसा किया होगा .... आदि

भूतकालिक भाषा के आधार पर ऊल-जलूल लिखकर लेखक अपने लेख की इतिश्री कर देता है। आज प्रायः इसी भाषा के साहित्य का प्राचुर्य है। मौलिकता रहित ऐसी भाषा से परिपूर्ण लेख या पुस्तकें जहाँ हँसी की पात्र हैं, वहीं आगे की पीढ़ी के सोचने-विचारने की क्षमता को नष्ट-भ्रष्ट कर रही हैं।

इसी अनुकरण की देन दिल्ली से प्रकाशित दैनिक पत्र "हिन्दुस्तान" में ५ जनवरी १९९७ को प्रकाशित प्रतिभा आर्या का लेख है। जिसमें लेखिका **प्रतिभा आर्या** ने ऐसा हुआ होगा, ऐसा देखा होगा आदि की भाषा के आधार पर जहाँ आज के प्रमुख खाद्यान्नों के खोज की प्रामाणिकता सिद्ध की है, वहीं लेखिका ने **"कृषि की उन्नति के साथ माँसाहार कम होता गया और वैदिक आर्य शाकाहारी होते गये"** लिखा है। लेखिका के सम्पूर्ण लेख से तथा इन पङ्क्तियों से सुस्पष्ट है कि सृष्टि का आदि मानव भक्ष्य पदार्थ के रूप में माँस खाता था, अन्न की खोज मनुष्य ने बाद में की।

लेखिंका को ज्ञात होना चाहिये सृष्टि के आदि में परमपिता पंरमात्मा ने मनुष्य मात्र के कल्याण के लिये चारों वेदों का ज्ञान दिया। वेदों में जहाँ मनुष्य को किस प्रकार रहना चाहिये, किस वस्तु का उपभोग करना चाहिये, हमारे वस्त्र कैसे हों, हमारे परिवार, पशु, कूप आदि किस प्रकार के हों आदि बताया है वहाँ यह भी बताया है, कि मनुष्य का भक्ष्य क्या हो, यथा-

व्रीहिमत्तं यवमत्तमथो माषमथो तिलम्।
एष वां भागो निहितो रत्नधेयाय दन्तौ मा हिंसिष्टं पितरं मातरं च।।

अथर्व० ६।१४०।२।।

व्रीहयश्च मे यवाश्च मे माषाश्च मे तिलाश्च मे मुद्गाश्च मे खल्वाश्च मे प्रियङ्गवश्च मेऽणवश्च मे श्यामाकाश्च मे नीवाराश्च मे गोधूमाश्च मे मसूराश्च मे यज्ञेन कल्पन्ताम्।।

यजु० १८।१२।।

इन मन्त्रों में बताया गया है कि मनुष्य का भक्ष्य क्या है तथा भक्ष्य के रूप में कौन से पदार्थ प्राप्त करने चाहिये। यह सर्वविदित है कि किसी भी वस्तु को खाने के लिये दाँतों की आवश्यकता होती है, तो वेद में बालक के दाँत निकलने पर **व्रीहिम्**=धान, यवम् = जौ, माषम् = उड़द, तिलम् = तिल आदि अन्नों को ही भक्ष्य के रूप में गिनाया है तथा खाने का आदेश दिया है, माँस को नहीं ।।

तैत्तिरीयोपनिषद् की ब्रह्मानन्द वल्ली में सृष्टि उत्पत्ति क्रम बताया है, वह भी इस विषय में ध्यातव्य है –

तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः सम्भूतः। आकाशाद्वायुः। वायोरग्निः। अग्नेरापः। अद्भ्यः पृथिवी। पृथिव्या ओषधयः। ओषधीभ्योऽन्नम्। अन्नाद्रेतः। रेतसः पुरुषः। स वा एष पुरुषोऽन्नरसमयः।।

तै०उ०। ब्र०व० । अनु० १ ।।

उपनिषद् के इस वचन में भी मनुष्य की उत्पत्ति अन्न से बताई है तथा उसे अन्नमय बताया गया है। इस प्रकार किसी भी तरह यह नहीं सिद्ध किया जा सकता कि सृष्टि का आदि मानव अर्थात् आर्य गुणों से विभूषित ऋषि, मुनि आदि माँसाहारी थे।

वास्तविकता तो यह है कि मानवीय सृष्टि से पूर्व परमपिता परमात्मा ने बौद्धिक = आत्मिक भोजन के लिये चारों वेद, पीने के लिये बड़े-बड़े जल प्रपात, नदियाँ आदि तथा भक्षण के लिये गेहूँ , जौ, मुद्ग आदि अन्नों को, यज्ञ-यागादि सम्पन्न करने के लिये गौ आदि पशुओं को उत्पन्न कर दिया था।[1]

---

१. द्र० ऐतरेय उप० १।३।१-२।।

हम आज भी देखते हैं बालक के उत्पन्न होने से पूर्व माँ के स्तन दुग्ध से परिपूर्ण हो जाते हैं। जब यह निमित्त मात्र हमारी माता है, उसका शरीर हमारे लिये इतना चिन्तन करता है तो वह परमपिता सबका पिता अपने बच्चों को आहार के निमित्त क्या अधर में छोड़ देगा? अन्न को खोजने के लिए विवश रखेगा? नहीं । ऐसा नहीं। वह दयालु परमात्मा सृष्टि के आदि में पहले से ही जल, अन्नादि की पूर्ण व्यवस्था रखता है। किसी कवि ने परमात्मा की अन्नादि विषयक व्यवस्था का इन शब्दों में चित्रण किया है-

जब दाँत नहीं तब दूध दियो
जब दाँत दिये तब अन्न न देगा !!

माँसाहार को वैशेषिक दर्शन में दुष्ट भोजन बताया है-

दुष्टं हिंसायाम्।

वै०द० ६।१।७ ।।

अर्थात् **हिंसायाम्**=हिंसा पूर्वक जो भोजन प्राप्त किया जाता है, वह, **दुष्टम्**=दुष्ट (दूषित) भोजन होता है।

इस प्रकार दुष्ट भोजन=मांसाहार हम अपनी दूषित वृत्तियों के कारण करते हैं, एवं किया है। माँसाहार करने में मानव की अन्न विषयक अज्ञानता कारण नहीं।

अब **'आर्य'** शब्द को लें। आर्य शब्द कोई ऐसी वैसी संज्ञा नहीं है। यह एक सम्पूर्ण अच्छाइयों की वाचिका है, समस्त अच्छाइयों को एक साथ कहने का एक सूत्र = संक्षिप्त शब्द है। जैसे इस बौद्धिक जीव की **''मत्वा कर्माणि सीव्यन्ति, इति मनुष्याः,** निरु० ३।२।७, **अर्थात् मनन पूर्वक कार्य करने से''** मनुष्य संज्ञा है, वैसे ही **आर्य भी इस बौद्धिक जीव की गुणवाची संज्ञा है।** आर्य शब्द **ऋ गतौ** (गति=ज्ञान, गमन, प्राप्ति) धातु से

'ण्यत्' प्रत्यय द्वारा निष्पन्न है जिसका निर्वचन इस प्रकार है- **"अभिगमनीयः प्रापणीयः यः स आर्यः" अर्थात् जो सबका प्राप्तव्य है, विद्या पारङ्गत है, श्रेष्ठ है वह आर्य है।** किसी कवि ने आर्य की परिभाषा इस प्रकार की है-

शान्तस्तितिक्षुर्दान्तश्च सत्यवादी जितेन्द्रियः ।
दाता दयालुर्नम्रश्च आर्यः स्यादष्टभिर्गुणैः ॥

अर्थात् जो शान्त हो, सहनशील हो, मन को वश में रखने वाला हो, सत्यवादी हो, इन्द्रियों का विजेता हो, दानी हो, दयालु हो और नम्र हो वही आर्य है। किसी विशिष्ट आकृति वाले या रूप वाले व्यक्ति का नाम **'आर्य'** नहीं है।

आर्य शब्द को इस अर्थ की कसौटी से जरा कसकर देखें कि जो माँसाहारी होगा अर्थात् जो दूसरों की हत्या करके माँस का संग्रह करेगा या खायेगा क्या वह दयालु = आर्य कहा जा सकता है या हम स्वयं आर्य माँस खाते थे इत्यादि आर्यों के विषय में लिखकर हम भी आर्य कहला सकते हैं, अपने नामों के आगे आर्य शब्द जोड़ सकते हैं ? नहीं, कदापि नहीं।

इस प्रकार उपर्युक्त प्रमाणों से सिद्ध है कि **मनुष्य को अन्न खोजने की आवश्यकता नहीं पड़ी, वे प्रारम्भ से ही अन्न का ही भक्षण करते थे एवं उत्पादन करते थे ॥**

आर्य लोग मांस खाते थे यह उपहार तो हमें विदेशियों से प्राप्त हुआ है। बस दुःखावह तो यह है कि हम स्वयं अपने को मांस खोर बताने लगे।

अब चला वेदों की मूर्ति का बखेड़ा !

महोदय! आपकी 'युवर फैमिली फ्रेण्ड', कार्यालय, १४२ जमरूदपुर (लेडी श्रीराम कालेज के सामने) संस्था का विगत अगस्त मास १९९८ के **पाञ्चजन्य** साप्ताहिक पत्रिका के किसी अंक में '**श्रेष्ठदान**' विषयक एक विज्ञापन प्रकाशित हुआ है, कि "वेदों के प्रचार और प्रसार की दिशा में हमने नई दिल्ली में एक '**वेद विद्या गुरुकुलम्**' की स्थापना की है, जिसमें विद्यार्थियों को वेद विहित ढंग से शिक्षा दी जा रही है। ऐसे विद्यार्थी सामान्य आर्थिक स्थिति के होंगे, और इनका पोषण के प्रति आपका सहयोग उपयोगी होगा। अपने माता पिता के पुण्यतिथि के दिन आप इन विद्यार्थियों को भोजन करा सकते हैं" .... आदि-आदि वाक्य लिखे हैं। जिनको पढ़कर आकर्षण हुआ, प्रसन्नता हुई कि चलो, आज के इस भौतिकता प्रधान युग में वेद पठनार्थी बालकों का भरण-पोषण तथा वेदों की उच्च शिक्षा से उन्हें युक्त किया जायेगा ।

पर खेद है कि इस विज्ञापन में यह भी लिखा देखा कि "इस समय एक साल के लिये पाठशाला के विद्यार्थियों का अन्नदान के इच्छुक व्यक्तियों को दर्ज करते हैं और इनको प्रसाद के रूप में **चारों वेदों की मूर्त्तियों का फोटो भेजे जायेंगे**, जो अभी तक कहीं प्रकाशित नहीं हुआ। काशी कामकोटि शंकराचार्य के कर कमलों द्वारा उनके दिल्ली आगमन के समय प्रकाशित हुआ था। **हम भले वेदों का अध्ययन नहीं कर पाते, परन्तु इन वेद मूर्तियों की फोटो अपने पूजा कक्ष में रखकर उनकी पूजा तो कर सकते हैं।** इसमें हमें वेदमाता का आशीर्वाद पूर्णरूप से प्राप्त होगा" इन पंक्तियों ने तो मुझे चौंका दिया।

विज्ञापनदाता महानुभाव! किञ्चित् विचार कीजिये कि जो वेद नित्य हैं, शाश्वत हैं, उनकी मूर्त्ति? वाह रे विडम्बना ?? मूर्त्ति की कल्पना हम दो प्रकार से ही तो करेंगे, **एक जड़, दूसरी चेतन। तो वेद की जड़ मूर्त्ति तो पुस्तक का आकार है ही, क्योंकि ज्ञान की जड़ मूर्त्ति पुस्तक ही होगी अन्य नहीं,** यह सर्वविदित तथ्य है। जिसे महर्षियों ने बहुत पहले ही पुस्तकरूप में वेदों को हमें प्रदान कर दिया था, जिसमें यास्क महर्षि का वचन प्रमाण है-

साक्षात्कृतधर्माण ऋषयो बभूवुस्ते अवरेभ्योऽसाक्षात्-कृतधर्मभ्य उपदेशेन मन्त्रान् संप्रादुः। उपदेशाय ग्लायन्तोऽवरे बिल्मग्रहणायेमं ग्रन्थं समाम्नासिषुर्वेदं च वेदाङ्गानि च।

निरु० १। १६ ।।

अर्थात् साक्षात्कृतधर्मा ऋषियों ने दूसरे असाक्षात्कृतधर्मा मनुष्यों को उपदेश द्वारा मन्त्रों को प्रदान किया। उपदेश से ग्लानि को प्राप्त = मन्त्रों को ग्रहण करने में असमर्थ होने पर दूसरों के लिये विस्तार से ग्रहण करने के लिये इस निघण्टु ग्रन्थ और वेदों का ग्रथन किया और वेदाङ्गों का ग्रथन किया।

महर्षि यास्क के इस वचन से सुस्पष्ट है कि **ज्ञान का कोई भी स्थूल रूप सम्भव है तो मात्र पुस्तक ही, अन्यथा ज्ञान विस्तार की माध्यम पुस्तकें संसार में होती ही नहीं, ज्ञान की मूर्तियों का ही प्रचलन होता।** ऋषि महर्षि कम बुद्धि वाले नहीं थे, अतः उन्होंने पुस्तकें बनाईं। यदि ज्ञान की मूर्तियाँ बनाना सम्भव था, तो वे भी आपकी मूर्तियों से सुन्दर और आकर्षक वेदों की मूर्तियाँ प्रस्तुत कर सकते थे।

ज्ञान की दूसरी चेतन मूर्ति उसके अध्येता होते हैं, जैसा कि हम जानते ही हैं कि वेदों को पुस्तकाकार रूप देने से पूर्व **सृष्टि के आदि में होने**

वाले वे ऋषि महर्षि ही वेदमूर्ति रूप थे। तभी तो आज वेद वेत्ताओं के विशेषणों में 'वेदमूर्ति' भी शब्द है।

थोड़ा गम्भीरता से विचार करें। हम कैसी वञ्चना कर रहे हैं। वेदों की गर्दभ, अश्व, अज तथा बन्दर आदि अन्य किसी वन्य प्राणी की आकृति में वेदों की मूर्ति बनाने का ढोंग रच रहे हैं। क्या पता है हमें, आने वाले समय में कोई हम से भी अधिक विशिष्ट बुद्धि वाला कलाकारी दिखाने वाला हो सकता है, वह भी अपने रुचिकर पशुओं की आकृति का रूप वेदों को प्रदान कर दे, फिर तो वेद की आकृति के ज्ञान का इतना बड़ा बखेड़ा खड़ा होगा, कि जिसे सुलझाना इस सृष्टि में तो सम्भव न हो सकेगा।

अरे! यदि वेदों का प्रचार करना ही है, तो जो एक-एक वेद आज कागज की महार्घता के कारण २५०/-, ३००/- रू० के प्राप्त हो रहे हैं, उन्हें कम मूल्य में छपवाकर जन-जन तक पहुँचाइये, उन्हें सुलभ कराइये। करोड़ों ऐसे जन हैं, जिन्होंने चारों वेदों की पुस्तकें तक नहीं देखी हैं। आपके प्रचार का मार्ग मूर्तियाँ ही हैं, तो आप अपने वेद पठनार्थियों के फोटो या मूर्तियां बनवाइये और भिजवाइये, जिससे वे विद्यार्थी सम्मानित हों, उत्साहित हों, गौरवान्वित हों वेद पढ़ने में ।

स्मरण हो, आज वेद विद्या के लोप का कारण वेद पठनार्थियों का तिरस्कार, असम्मान दृष्टि, उपेक्षा तथा पठन-पाठन का अभाव और पढ़ने वालों का आलस्य ही है, अन्य नहीं।

वेद की मूर्तियों का फोटो भेजकर धन मंगवाना मात्र धनराशि एकत्रित करने का साधन है, जिसे आप अपना रहे हैं। श्रीमन् ! आपसे अनुरोध है कि 'वेदों की मूर्तियों का फोटो भेजे जायेंगे' इस वाक्य को निरस्त कर वेद के ग्रन्थ, वेद की पुस्तकें, वेद के आदर्श मन्त्र, वेद के

व्याख्यान भेजे जायेंगे, यह विज्ञापन देने का शीघ्र प्रयत्न करें, जिससे जन मानस में वेदों के प्रति भ्रान्ति न फैले, गुमराह न हों, और वेद का प्रचार भली-भाँति हो सके।

आज मेरे देश में जहाँ कहीं भी विवेकशीलता, मानवता, आदर्श आदि अवशिष्ट हैं वह वेदों की ही देन है। **यदि वेदों की मूर्तियाँ, फोटो वितरित हो जायेंगे, स्थापित हो जायेंगे, उस दिन देश की मनीषा मर चुकी होगी।** जिस प्रकार परमेश्वर की मूर्तियों ने मनुष्य को सत्यता से दूर कर असत्यता से आबद्ध कर दिया है और वे **मूर्तियाँ देश को टुकड़े - टुकड़े करने में सहायक बनी हुई हैं, वैसे ही वेद की मूर्तियाँ मानव को जो उसका विशिष्ट अस्तित्व है उससे दूर कर देंगी और वह मानव पशुरूप हो जायेगा, तथा वेद विद्या घर-घर भिक्षुकवत् 'गोपाय मा शेवधिष्टेऽहमस्मि[1]' = मेरी रक्षा कर, मैं तेरे सुख का खजाना हूँ की गुहार** लगाती फिरेगी, अतः सावधान बन्धुओ! चेतो। **ढोंग का बखेड़ा खड़ा न करो।**

वेदशास्त्रार्थतत्त्वज्ञो यत्र तत्राश्रमे वसन्।
इहैव लोके तिष्ठन्स ब्रह्मभूयाय कल्पते।।

मनु० १२।१०२।।

अर्थात् वेदशास्त्र के अर्थतत्त्व का ज्ञाता जिस किसी भी आश्रम में रहता हुआ इस संसार में रहकर ब्रह्म प्राप्ति=मोक्ष को प्राप्त करने में समर्थ हो जाता है।

---

१. निरु० २।१।४॥

'हृदय' का यौगिक अर्थ

१६६८ दिसम्बर वेदवाणी के अंक २ में **'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यः'**[1] शीर्षक से मेरा लेख प्रकाशित हुआ था, जिसमें मैंने हृदय शब्द को व्यापक अर्थ वाला माना है, और मस्तिष्क वाचक हृदय को जीवात्मा का निवास बताया है। जिसकी समालोचना 'जीवात्मा का निवास स्थान' शीर्षक से फरवरी अंक ४ में मान्य 'रामनिवास गुणग्राहक जी' ने की है। लेखक की आलोचना से जहाँ मैं प्रसन्न हूँ **(वादे-वादे जायते तत्वबोधः)**, वहीं मान्य भ्राता के अमौलिक चिन्तन से खिन्न भी हूँ।

श्रद्धेय सम्पादक जी ने गुणग्राहक जी के लेख की टिप्पणी में मेरे लेख को पू०पं० युधिष्ठिर मीमांसक जी के अभिमतानुकूल बताया है तथा यह भी लिखा है 'इस विषय को यहीं समाप्त समझा जाय' अतः मेरे लिखने का कोई औचित्य नहीं रहता, पुनरपि श्रद्धेय सम्पादक जी की अवमानना समझते हुये भी उत्तर लिख रही हूँ, क्योंकि भ्राता रामनिवास गुणग्राहक जी के लेख में कुछ ऐसी हास्यास्पद बातें हैं, जिन्हें सामने लाना आवश्यक है।

लेखक ने **'जीवात्मा का निवास स्थान हृदय=मस्तिष्क'** है मेरे इस विचार का विरोध दो पहलुओं से प्रकट किया है-

१. 'विदुषी लेखिका ने .... हृदयम् शब्द का अर्थ हृदय करके कोष्टक में मस्तिष्क लिख दिया है। अथर्ववेद के भाष्य में ऐसा कोई संकेत दोनों मन्त्रों में कहीं नहीं मिलता'।

---

१. यह निबन्ध **'कर ले भीतर की पहचान'** शीर्षक से मेरी पुस्तक **'अन्तरिक्ष वसिष्ठ, ब्रह्म आदि विज्ञान'** पृ० १११ पर है।

२. 'कितना अच्छा होता, यदि वे महर्षि की ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका के उपासना प्रकरण में उनके निम्न शब्दों को भी देख लेतीं .... कण्ठ के नीचे दोनों स्तनों के बीच में और हृदय के ऊपर जो हृदय देश .....'।

लेखक के विचारों को पढ़ने से ज्ञात होता है कि वे अपने सम्पूर्ण लेख में जीवात्मा का निवास मस्तिष्क नहीं है, अपनी इस धारणा को युक्तियुक्त प्रमाणों से सिद्ध नहीं कर सके हैं। उन्होंने जीवात्मा का निवास कण्ठोदर मध्य हृदय ही है, इसकी पुष्टि में लिखा है – 'अधिक स्पष्ट करने के लिये ऋग्वेद के चौथे मण्डल के ५८वें सूक्त का १ व ७वाँ मन्त्र देखें–

समुद्राद् ऊर्मिर्मधुमाँ उदारऽदुपांशुना सममृतत्वमानट्।

अर्थात् हृदय समुद्र में मधुभरी लहरी उठी, उसने चुपचाप अमृतत्व को भली-भाँति प्राप्त करा दिया। इसी प्रकार **'काष्ठा भिन्दन्'**...... अर्थात् उन लहरियों से पुष्ट हुआ योगी समस्त पराकाष्ठाओं, बन्धनों को तोड़ देता है।'

यहाँ पर मैं अपने लेखक भाई से पूछना चाहती हूँ, यदि वे ऋषि दयानन्द के शब्दों पर मरने-मिटने वाले हैं तो उनके द्वारा प्रस्तुत मन्त्रों का अर्थ ऋषि के भाष्य से विरुद्ध क्यों है? **ऋषि भाष्य को देखें, वे क्या वर्णन करते हैं–**

अथोदकविषयमाह– अब ११वें ऋचा वाले अट्ठावनवें सूक्त का आरम्भ है उसके **प्रथम मन्त्र** में उदक विषय को कहते हैं–

समुद्रात् ------------------ आनट् ।।

ऋ० ४।५८।१॥

समुद्रात् = अन्तरिक्षात् (अन्तरिक्ष से), ऊर्मिः = जलसमूहः (जल का समूह), मधुमान् = मधुरगुणः (मधुर गुणयुक्त), उत्–

आरात् = उत्कृष्टतया प्राप्नोति (उत्तमता से प्राप्त होता) , उप अंशुना= सूर्येण (सूर्य से), सम् अमृतत्वम् = अमृतपन को, आनट् = व्याप्नोति (व्याप्त होता है)।

अथ जलदृष्टान्तेन वाग्विषयमाह – अब जल दृष्टान्त से वाणी विषय को कहते हैं –

सिन्धोरिव ---- काष्ठा भिन्दन् ऊर्मिभिः पिन्वमानः।

ऋ० ४।५८।७॥

काष्ठाः = दिश इव तटिः (दिशाओं के समान तटों को), भिन्दन् = विदृणन्ति (विदीर्ण करती हैं), ऊर्मिभिः = तरङ्गैः (तरङ्गों से), पिन्वमानः = प्रसादयन् (प्रसन्न करता हुआ)।

महर्षि के उपर्युक्त मन्त्रार्थों में हृदय शब्द का तथा उस विषय का अता-पता नहीं है पुनः कैसे लेखक ने महर्षि भाष्य के विपरीत हृदय सम्बन्धी अर्थ किया है। यहाँ लेखक के मन्त्रार्थ प्रदर्शन द्वारा उनके वदतो व्याघात की ओर ध्यान आकृष्ट कराना चाहती हूँ। आश्चर्य है रामनिवास जी 'गुणग्राहक' मुझे तो महर्षि के वाक्यों को देखने को कह रहे हैं, पर स्वतः क्यों नहीं देखा, महर्षि भाष्य?

इसी प्रकार मेरे द्वारा प्रस्तुत अथर्ववेद के मन्त्रों का अर्थ अथर्ववेद के भाष्यों में खोजना चाहते हैं, जबकि मेरे विचार को मन्त्र स्वतः ही प्रकट कर रहे हैं, पर आपके अर्थ को तो सप्रयास लगाना पड़ेगा। वास्तविकता तो यह है कि उन्होंने जीवात्मा का निवास स्थान वस्तुतः क्या है इसके कोई भी स्पष्ट रूप से प्रमाण प्रस्तुत नहीं किये हैं। कुछ भी लिखना है सो लिख दिया है क्योंकि लिखने का भी आज बहुत भारी प्रचलन है। लेखक जीवात्मा का निवासस्थान छोड़ प्राणों के निवास का ही वर्णन करने बैठ गये हैं, जिसके प्रमाण में लिखते हैं – प्राणो ---- हृदयवृत्तिः । अर्थात् मुख व नासिका

से हृदय पर्यन्त गति करने वाला वायु प्राण है। वेद भी इसकी पुष्टि करता है
----- **द्वाविमौ वातौ** ----- **परावतः** । ---- **वातु यद्रपः।**

ऋ० १० । १३७ । २ ॥

इस मन्त्र में प्राणापान की गति व तत् प्रभाव का वर्णन है कि - **इमौ द्वौ वातौ वातः** - ये दो वायु चल रहे हैं, उनमें से एक हृदय तक, दूसरा हृदय से बाहर तक जाता है। एक तुझे बल प्रदान करे, दूसरा जो रोग है उसे दूर फेंक देवे। ऐसे ही अन्य और भी प्राण-सम्बन्धी प्रमाण प्राण शुद्धि आदि के लिये दिये हैं।

विद्वान् लेखक ने '**शिरसि, नेत्रयोः**' आदि शब्दों में सप्तम्यन्तता की युक्तता में अपना व्याकरण ज्ञान भी प्रदर्शित किया है पर '**दौर्हृदया**' शब्द के अर्थ में उनका व्याकरण ज्ञान न जाने कहाँ लुप्त हो गया, जिसका अर्थ '**दो हृदय**' किया है, वे लिखते हैं '---- मस्तिष्क में भी किसी हृदय की कल्पना कर लेते हैं। हमारे आयुर्वेदाचार्यों ने गर्भावस्था के आठवें[1] ' मास में नारी को '**दौर्हृदया वा दौहृदिनी**' विशेषण दिया है, इधर हमने पुरुष मात्र **को ही 'दो हृदय' बनाकर रख दिया।**' यहाँ लेखक को बहुत बड़ी इसकी भी चिन्ता है कि इस प्रकार पुरुष भी गर्भावस्था वाले हो जायेंगे, पर लेखक भाई को ज्ञात होना चाहिये, हृदय की यौगिकता के आधार पर तो, दो क्या कई हृदय वाले भी होंगे, स्त्री-पुरुष।

अब देखें "**दौर्हृदया**" शब्द का अर्थ - **दौर्हृदया दुर्हृदय शब्द से बना है।** दुर् का अर्थ स्पष्ट है, तो दुर्हृदय का अर्थ हुआ खराब हृदय अर्थात् हृदय की दुरवस्था, दुःखी हृदय। स्वार्थ में या भाव में अण् होने पर

---

१. लेखक ने इन शब्दों के सन्दर्भ में गर्भावस्था के आठवें मास की चर्चा की है, यह भी उनकी भूल है, चतुर्थमास या तृतीयमास होना चाहिये।

द्र० सुश्रु० शा० ३ । १५ , चरक० शा० ४ । १६ ॥

'दौर्हृदय' शब्द बना, स्त्रीलिङ्ग में 'दौर्हृदया' जिसका अर्थ होगा दुःखी हृदय वाली स्त्री। गर्भावस्था में जो बेचैनी होती है, दुःख, कष्ट की अनुभूति होती है, वह वही जान सकता है जो उस स्थिति से गुजरता है, मेरे या आपके कथन की बात नहीं।

दूसरा शब्द 'दौहृदिनी' दिया है उसके अर्थ में भी विशिष्टार्थ निहित है जिसे उस प्रकरण को देखने से ही जाना जा सकता है। उसका भी तात्पर्य वही है जो दौर्हृदया का है,

तथा हि-

द्विहृदयां च नारीं दौहृदिनीमाचक्षते, दौहृदविमाननात् कुब्जं कुणिं खञ्जं जडं वामनं विकृताक्षमनक्षं वा नारी सुतं जनयति, तस्मात् सा यद्यद् इच्छेत् तत्तत् तस्यै दापयेत्। लब्धदौहृदा हि वीर्यवन्तं चिरायुषं च पुत्रं जनयति।

सुश्रु० शारी० ३।१५॥

अर्थात् दो हृदय होने से (गर्भिणी) नारी को दौहृदिनी कहते हैं। दौहृदयविमाननात्=(गर्भिणी की) इच्छापूर्ति की अवहेलना करने से स्त्री, कुब्जम्= कुबड़ा, कुणि = लूला, खञ्ज = लंगड़ा, जड, वामन = नाटा, विकृताक्ष = टेढ़ी आंख वाला, अनक्ष = अन्धा पुत्र पैदा करती है, अतः वह जो-जो चाहे उसे देना चाहिये, क्योंकि लब्ध दौहृदा = इच्छापूर्ति वाली होने पर वीर्यवान् और चिरायु पुत्र उत्पन्न करती है।

अन्यच्च -

राजसंदर्शने यस्या दौहृदं जायते स्त्रियाः ।
अर्थवन्तं महाभागं कुमारं सा प्रसूयते ॥
दुकूलपट्ट-कौशेय-भूषणादिषु दौहृदात् ।
अलङ्कारैषिणं पुत्रं ललितं सा प्रसूयते ॥ आदि-२॥

सुश्रु०शारी० ३।१६-२०॥

जिस स्त्री को राजा के दर्शन में **दौहृद**=अभिलाषा होती है वह धनवान् और भाग्यवान् कुमार को उत्पन्न करती है। **दुकूल**=शाल आदि, **पट्ट**=जरी आदि का वस्त्र, **कौशेय**=रेशमी वस्त्र, भूषण आदि में, **दौहृदात्**= अभिलाषा होने से अलङ्कार प्रिय, ललित पुत्र को वह उत्पन्न करती है।

सुश्रुत के इस सम्पूर्ण प्रकरण से ज्ञात होता है कि यहाँ **दौहृदिनी शब्द पारिभाषिक शब्द है जो नारी की गर्भावस्था की उस विचित्र मनः स्थिति का द्योतक है, जिस समय वह नाना इच्छाओं, लालसाओं, भावनाओं से युक्त होती है।** यहाँ दौहृदिनी शब्द का स्थूलार्थ (दो हृदय वाली) मान भी लें, पुनरपि विशिष्टार्थ जाने बिना प्रकरण को समझना दुष्कर होगा। **इसलिये यथार्थतः दौहृदिनी शब्द का वाच्यार्थ इच्छापूर्ति वाली, अभिलाषा वाली नारी होगा, यतः दौहृद[1] का अर्थ अभिलाषा इच्छापूर्ति है। दौहृद से 'इनि' करने पर 'दौहृदिनी' शब्द निष्पन्न होता है।**

अतः दौहृद का ही अर्थ दौहृदिनी शब्द में है। सुश्रुत के इस प्रकरण को जान लेने पर लेखक की पुरुष मात्र को दो हृदय बनाने आदि की अलीका शंकायें समाप्त हो जाती हैं।

लेखक के अनुसार कण्ठ के नीचे दोनों स्तनों के बीच में ------- हृदय देश है, वैसा मान लिया जाये, तो सर्वप्रथम यहाँ इस शंका की भी अवश्य सम्भावना है कि क्या पुरुष भी स्तन वाले होते हैं? आश्चर्य है लेखक का इस ओर ध्यान क्यों नहीं गया, क्योंकि पुरुषों में स्तन संकेतक बिन्दु होते हुये भी स्तनधर्म नारियों का ही प्रसिद्ध है -

---

१. दौहृद शब्द दोहद का पर्याय है। 'दोहद का अर्थ है 'दोहम् आकर्षम् (प्रलोभन, लालसा) ददाति इति दोहदः दोहदं वा। गर्भे, गर्भिण्या अभिलाषे च ------ सुश्रुते तु दौह (हृ) दमिति पठित्वा-----।

द्र० 'दोहद' शब्द वाचस्पत्यम् कोष।।

स्तनकेशवती स्त्री स्याल्लोमशः पुरुषः स्मृतः।

महाभाष्य ४।१।३।।

इस प्रकार सिद्ध हुआ कि पुरुषों के स्तन नहीं होते। पुनः यदि पुरुषों के स्तन नहीं, तो उनके हृदय देश में भी शंका है कि या तो वे हृदय विहीन हैं, या उनके किसी अन्य भाग में हृदय है। **मस्तिष्क रूपी हृदय में जीवात्मा का निवास स्थान मानने पर ऊल-जलूल शंकाओं का उद्भव ही नहीं होगा।**

मैंने हृदय = मस्तिष्क में जीवात्मा का निवास स्थान माना है, इसके कुछ एक कारण हैं -

प्रथम तो यह है कि चिकित्सकीय अनुसन्धान में हृदय शब्द की व्यापकता, अनेकार्थता समक्ष आई, एतदर्थ मस्तिष्क को जीवात्मा का निवास स्थान माना, यथा-

हृदयमिति कृतवीर्यो बुद्धेर्मनसश्च स्थानत्वात् ।

सुश्रु० शा० ३।३०।।

अर्थात् कृतवीर्यमुनि मानते हैं, कि (उत्पन्न होने वाले गर्भ का)प्रथम हृदय बनता है क्योंकि वह बुद्धि और मन का स्थान है। अब यहाँ ध्यातव्य बात यह है कि **इस वचन में हृदय को बुद्धि का स्थान बताया है और बुद्धि मस्तिष्क में है यह प्रसिद्ध ही है।** किसी के द्वारा बुद्धिहीनता का कार्य करने पर यही कहा जाता है, क्या तुम्हारा मस्तिष्क खराब है या फेल है? लेखक के सम्मत हृदय को लक्ष्य कर तुम्हारा हृदय खराब है या फेल है? यह नहीं कहा जाता। **अतः 'हृदय' शब्द मस्तिष्क का वाचक है और जब मस्तिष्क का हृदय कथन सिद्ध है तो मस्तिष्क में जीवात्मा का निवास भी स्वतः स्पष्ट है।**

ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका के उपासना प्रकरण में जो 'कण्ठ के नीचे दोनो स्तनों के बीच में ---- हृदय देश माना है' उसके न मानने में मेरा दूसरा यह हेतु है कि वह व्याख्या छान्दोग्योपनिषद् के अथ ---- ब्रह्मपुरे दहरं पुण्डरीकम् ---। इस संस्कृत वाक्य के विपरीत होने से समुचित प्रतीत नहीं होती तथा 'ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका ' ग्रन्थ संस्कृत प्रधान ग्रन्थ है अतः उसका संस्कृत भाग ही प्रामाणिक कहा जायेगा। क्योंकि ग्रन्थ की हिन्दी भीमसेन आदि पण्डितों ने की है महर्षि ने नहीं, अतः हिन्दी प्रामाणिक नहीं है इस तथ्य से विद्वज्जन भलीभाँति परिचित हैं। 'दयानन्द सिद्धान्त भास्कर' पुस्तक के लेखक श्री कृष्णचन्द्र विरमानी-पञ्जाब, ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका के परिचय में लिखते हैं- 'चारों वेदों के भाष्य की यह एक भूमिका है। इस भूमिका में संस्कृत लेख तो महर्षि का अपना है और हिन्दी अनुवाद पण्डितों का है।' कई जगह पर इस अनुवाद में त्रुटियाँ भी रह गई हैं।'

दया० सिद्धान्त भा० प्रथम सं० १९३३ ई०, पृ० २॥

तीसरी बात महर्षि दयानन्द का सिद्धान्त है 'अब जो वेदादि सत्यशास्त्र और ब्रह्मा से लेकर जैमिनि मुनि पर्यन्तों के माने हुये ईश्वरादि पदार्थ हैं, जिनको कि मैं भी मानता हूँ ---- मेरा कोई नवीन कल्पना वा मत-मतान्तर चलाने का लेशमात्र भी अभिप्राय नहीं है, किन्तु जो सत्य है उसको मानना मनवाना, और जो असत्य है उस को छोड़ना और छुड़वाना मुझको अभीष्ट है'।

सत्यार्थ० स्वमन्तव्या० प्र० पृ० ५५९॥

अतः महर्षि दयानन्द के कथनानुसार उपनिषत्कार ऋषि के वचन में कोई भी कण्ठ, स्तन आदि वचन न होने से वह व्याख्या प्रमाण योग्य नहीं।

चौथा कारण यह है कि ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका के उपासना प्रकरण में हृदय का स्थान वक्षः स्थल के बीच में बताया गया है और उधर सभी डॉक्टर, वैद्य एक स्वर से यही स्वीकार करते हैं कि हृदय का स्थान वक्षः

स्थल के बायीं ओर है। कोई भी चिकित्सक हृदय को वक्षःस्थल के मध्य में नहीं मानते।

जब रक्त संवाहक हृदय का स्थान ही निश्चित नहीं है पुनः वहाँ जीवात्मा के निवास का निश्चय करना भी कठिन है। और सबसे मोटी बात यह कि शासक शीर्षस्थ स्थान पर स्थित देखा जाता है अतः मस्तिष्क रूपी हृदय में जीवात्मा का निवास मानने में कोई विप्रतिपत्ति नहीं है।

लेखक को 'इन्द्रियाँ मस्तिष्क में है' इसमें भी शंका है, पर वे **'पूर्वं शिरः सम्भवति इत्याह शौनकः शिरोमूलत्वात् प्रधानेन्द्रियाणाम्'** सुश्रु०शारी० ३।३० इस स्थल का क्या करेंगे ? इस वचन से स्पष्ट प्रतीत हो रहा है कि प्रधान इन्द्रियों का मूल सिर है, और यह भी सत्य है कि सिर में मस्तिष्क है, तब तो स्वतः स्पष्ट हो गया कि जब सिर में इन्द्रियाँ हैं तो मस्तिष्क में भी हुईं। तभी तो मस्तिष्क को इधर-उधर लगाने पर या उसके विकृत होने पर कोई कितना भी त्वग् आदि पर आघात करे, पर त्वग् आदि स्पर्शादि का अनुभव नहीं करते, क्योंकि त्वग् आदि इन्द्रियों का केन्द्र मस्तिष्क त्वग् आदि की ओर नहीं होता।

यह भली-भाँति जान लेना चाहिये कि हृदय शब्द यौगिक शब्द है। जिसकी यौगिकता बृहदारण्यकोपनिषद् तथा शतपथ १४।७।४।१, **'तदेतत् त्र्यक्षरं हृदयमिति', हृ इत्येकमक्षरम् अभिहरन्त्यस्मै स्वाश्चान्ये च य एवं वेद, द इत्येकमक्षरं ददत्यस्मै स्वाश्चान्ये च य एवं वेद, यमित्येकमक्षरमेति स्वर्गं लोकं य एवं वेद,** बृ०उ० ५।३।१। में बताई गई है। इस स्थल में --

हृ - हृञ् हरणे = हरण कर लेना,

द - डुदाञ् दाने = देना

यम् - यम उपरमे या इण्गतौ - रोकना, गति करना,

इन तीन धातुओं को मिलाकर हृदय शब्द की निष्पत्ति की है, जो व्यापक अर्थ को लिये हुये है। जो भी शरीर का अङ्ग इन तीनों क्रियाओं को करता है वह हृदय कहाने का अधिकारी है। रक्त संवाहक हृदय तीनों कार्य करता है अतः वह हृदय कहाता है। ज्ञान संवाहक = मस्तिष्क भी अविद्यादि को हटाने, रोकने और विद्या आदि के देने से तीनों कार्य करता है अतः मस्तिष्क भी हृदय है। अन्य जो भी शरीर संस्थान में तीनों कार्य करेंगे वे भी हृदय शब्द से कहे जायेंगे। इस प्रकार मस्तिष्क को हृदय कहना कोई कल्पना नहीं है, यथार्थ है।

मस्तिष्क में जीवात्मा रहता है, इस परिप्रेक्ष्य में तैत्तिरीयोपनिषद् शिक्षा वल्ली का स्थल भी द्रष्टव्य है-

स य एषोऽन्तर्हृदय आकाशः। तस्मिन्नयं पुरुषो मनोमयः।
अमृतो हिरण्मयः। अन्तरेण तालुके, य एष स्तन इवावलम्बते,
सेन्द्रयोनिः। यत्रासौ केशान्तो विवर्तते, व्यपोह्य शीर्षकपाले ॥
तै० उ० १।६।१॥

अर्थात् वह जो हृदय के अन्दर आकाश है उसमें मनोमय= अन्तःकरण आदि से युक्त, अमर, हिरण्मय = ज्योतिर्मय पुरुष है, तालु के भीतर स्तन की तरह जो लटकता है वह इन्द्र अर्थात् जीवात्मा की योनि है, घर है। जहाँ वह दोनों शीर्ष कपालों को, व्यपोह्य = आच्छादित कर बालों का मूल है वहाँ तक, विवर्तते = विशेष रूप से रहता है, वर्तमान है।

यहाँ तित्तिरि ऋषि ने हृदय में पुरुष का निवास बताया है और तालु से केश पर्यन्त शिरः भाग को इन्द्र का घर बताया है। यहाँ उपनिषद् वाक्य का 'हृदय' शब्द उरःस्थानी हृदय का वाचक नहीं है, शिरः स्थानी मस्तिष्क वाचक हृदय का है। यह इस वचन की व्याख्या से सुविदित होता है।

लिखने को बहुत कुछ लिखा जा सकता है पर यह लेख है, इस विषयक पुस्तक नहीं, अतः विस्तृत या गूढ़ विषय न बनाते हुये कुछ संकेत मात्र दिये हैं। लेखक को विदित हो कि किसी को भी अपना पक्ष, अपना वैमत्य स्थापित करने का पूर्ण अधिकार है, स्वतन्त्रता है। बड़े गर्व से निःसंकोच अपना विचार व्यक्त करना चाहिये, कोई रोक टोक नहीं **पर इतना ध्यान अवश्य रहे - बिना सोचे समझे उलझना ठीक नहीं।**

जीवात्मा के निवास विषयक स्वतन्त्र रूप से लेखक जितने चाहे उतने लेख लिखें, मुझे कोई आपत्ति नहीं है **पर यह अवश्य है कि जीवात्मा के निवासादि का निश्चय अनुभूति का विषय है, आग्रह-प्रत्याग्रह का नहीं।** इसका समाधान निश्चित मञ्च और धर्मार्यादि सभायें कदापि नहीं कर सकतीं। जैसा कि हमारे सम्मान्य सम्पादक जी ने भी लिखा है 'कोई साक्षात् कर्त्ता ही निश्चय पूर्वक कह सकता है कि शरीर में आत्मा का निवास स्थान कहाँ है'। अतः आज आवश्यकता तो विस्तृत व्यापक गम्भीर पठन-पाठन की है तथा तदनुसार तथ्य प्राप्त करने की।

पितृपक्ष और वैज्ञानिकता?

महोदय- आपके दैनिक पत्र **'आज'** के **श्राद्ध विशेषांक १९९९** अंक में **पितृपक्ष का वैज्ञानिक महत्व** शीर्षक से विजय कुमार शर्मा जी का प्रकाशित लेख पढ़ा। पितृपक्ष का महत्व बताते हुए मान्य लेखक ने कुछ ऐसे पक्ष स्थापित किये हैं, जो तर्क बुद्धि संगत नहीं प्रतीत होते। लेखक लिखते हैं कि पितृपक्ष में अपनी तिथियों के अनुसार हमारे पूर्वजों की आत्माएं पितर देवता के रूप में हमारे आवासों में अवतरित होती हैं तथा इस अवसर पर जो भी श्राद्ध, तर्पण, दान आदि कर्मकाण्ड सम्पादित किये जाते हैं, तब परम तृप्ति का अनुभव कर वे पितर देवता अपने वंशों को सुख-सौख्य का आशीर्वाद देते हैं। पुनः लिखते हैं प्रत्येक जीवात्मा का निवास इसी पितरलोक में होता है जहाँ पुनर्जन्म के लिए उसके संस्कारों का शोधन होता है तथा शुद्ध होकर वह जीवात्मा अपने कार्यों के अनुरूप जन्म ग्रहण करता है।

यहाँ एक तरफ तो लेखक पितृपक्ष में पितरों का अवतरित होना बताते हैं और दूसरी तरफ शुद्ध होकर के कर्मानुसार जन्म ग्रहण करना बताते हैं, यदि इन पितरों ने शुद्ध होकर जन्म ग्रहण कर ही लिया, तो पुनः वे अवतरित कैसे होंगे ? और उन्हें आजीवन जल आदि तर्पण प्रदान करने का क्या औचित्य होगा?

इसी प्रकार से तर्पण विधि का वैज्ञानिक महत्व बताते हुए देवी भागवत के माध्यम से लिखते हैं- अन्तरिक्ष में एक विशेष प्रकार के असुर उत्पन्न होते हैं, वे सूर्य की शक्ति को निगलते रहते हैं। इस प्रकार सूर्य का तेज कम हो जाता है, जब हम तर्पण करते हैं तो हमारी प्रत्येक अञ्जलि के जल से एक शूल उत्पन्न होता है और उन शूलों से अन्तरिक्ष में उत्पन्न असुरों का नाश होता है।

सचाई तो यह है कि उस अन्तरिक्ष में '**असुर**' नाम के जो तत्व हैं वे कृष्ण पक्ष के दिन हैं अन्य प्रकार वाले तत्त्व नहीं, यथा–**यो अपक्षीयते तम् अर्धमासम् असुरा उपायन्**, शत०ब्रा०१।७।२।२२॥, वे कृष्ण दिन सदा ही वहीं रहते हैं, उन्हें हटाने बढ़ाने या शुद्ध करने की हम मानवों को आवश्यकता नहीं। अन्यथा रात–दिन तथा तिथियों का ज्ञान कैसे होगा?

वास्तविकता तो यह है कि हम **पितर** शब्द के अर्थ से ही अनभिज्ञ हैं, जो पिता अर्थात् जीवित माँ–बाप का वाचक है। उसी **पिता** शब्द का बहुवचन **पितर शब्द भी जीवित माता–पिताओं का वाचक है**। तभी तो आत्मवादी अर्जुन अपने आत्मीयजनों को आमने–सामने उपस्थित देख युद्ध करने से इनकार करता है, उन आत्मीयजनों में पितरों को भी अर्जुन ने गिनाया है, यथा–

आचार्याः पितरः पुत्रास्तथैव च पितामहाः।
मातुलाः श्वशुराः पौत्राः श्यालाः सम्बन्धिनस्तथा।।
एतान्न हन्तुमिच्छामि घ्नतोऽपि मधुसूदन।

गीता० १।३४, ३५।।

यहाँ **पितर** शब्द जीवित धृतराष्ट्र आदि जो आत्मीय जन हैं उनके लिए प्रयुक्त है। यदि **पितर** शब्द का अर्थ मरा हुआ होता तो, '**न हन्तुमिच्छामि**' यह अर्जुन का कथन पितर के साथ कैसे संगत होगा? जब वे मर ही गये तब पुनः मारने न मारने की क्यों कर अर्जुन को विकलता होगी? अतः निःसंदेह **पितर जीवित व्यक्तियों का ही वाचक है, मृत का नहीं।**

आज समाज में यह स्थिति हो चुकी है कि तीर्थ स्थानों में अपने पितरों के नाम पर श्राद्ध, तर्पण निश्चित तिथियों में बड़े होश-हवास के साथ किया जाता है, और उधर घर में एक घूंट पानी के लिए भी माता-पिता कलपते, बिलखते पड़े हुए होते हैं, उन्हें पूछने वाला कोई नहीं होता। हम माता-पिता की उनके जीते जी अहर्निश श्रद्धा पूर्वक सेवा शुश्रूषा करें, तर्पण, तृप्ति करें इसे ही श्राद्ध, तर्पण[1] का वैज्ञानिक महत्व समझना चाहिए[2]।

ऋषयः पितरो देवा भूतान्यतिथयस्तथा।
आशासते कुटुम्बिभ्यस्तेभ्यः कार्यं विजानता॥

मनु० ३।८०।।

अर्थात् ऋषि, माता-पिता, विद्वान्, भृत्य आदि, अन्य प्राणी तथा अतिथि कुटुम्बियों=परिवारीय जनों से आशा रखते हैं, सहायता की अपेक्षा रखते हैं अतः अपने कार्य को=उत्तरदायित्त्व को जानते हुये कुटुम्बियों को उनकी आशा पूर्त्ति के लिये वैसा ही कार्य करना चाहिये।

यहाँ अतिथि आदि शब्दों के साथ आया 'पितरः' शब्द जीवित माता-पिता को ही प्रतिपादित कर रहा है।

---

१. पितर पक्ष में होने वाले श्राद्ध, तर्पण का विशेष व्याख्यान तथा विज्ञान लेखिका की 'त्रिपदी गौः' पुस्तिका में द्रष्टव्य है।

२. दैनिक पत्र 'आज' में १३ अक्टूबर १९९९ पृ० ६ पर प्रकाशित।

गंगा दशहरा और दस पाप

इस पौराणिक नगरी काशी में वैदिक मान्यताओं की स्थापना हेतु बड़ा सजग रहना पड़ता है। अभी बीते दिनों में **सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय** के प्राध्यापक **डा० मनुदेव भट्टाचार्य** जी ने गंगा दशहरा के अवसर पर '**गंगा दशहरा से दश पापों की ही मुक्ति क्यों? जबकि गंगा सर्वपापहरा है**' यह जिज्ञासा दैनिक पत्र **आज** के १२ जून सन् २००० के अंक में समाधानार्थ प्रकाशित की थी। वैदिक दृष्टिकोण कितनी गहराई से सच्चाई को छान-छान कर ऊपर ला देता है इस चिन्तन को निकट से देखने के लिये ही आर्य जगत् के समक्ष भी उस जिज्ञासा का समाधान रख रही हूँ।

व्रतों, पर्वों की श्रृंखला में **गंगा दशहरा** भी एक **व्रत रूप पर्व है** जो **ज्येष्ठ शुक्ला दशमी बुधवार या मंगलवार को हस्त नक्षत्र का योग होने पर होता है।** इस गङ्गा दशहरा के साथ दो बातें जुड़ी हुई हैं, **एक** तो यह कि आज के दिन गंगा पृथिवी पर आई। **दूसरा** यह कि गंगा दश पापों को नष्ट करने वाली है अर्थात् यह गंगा दशहरा पर्व, गंगा के पृथिवी पर अवतरण के रूप में मनाया जाता है तथा आज के दिन गंगा नदी आदि में स्नान करने से पापों से मुक्ति होती है यह समझा जाता है। गंगा दशहरा का माहात्म्य ब्रह्म पुराण, वराह पुराण, स्कन्द पुराण आदि पुराणों में तथा धर्मशास्त्र का इतिहास आदि धार्मिक कृत्यों के आख्यापक ग्रन्थों में बड़े ही रोचक ढंग से बतलाया गया है।

हमारे पौराणिक ग्रन्थ चिरन्तन शाश्वत रहस्यों के आगार हैं इसमें कोई सन्देह नहीं, पर उन रहस्यों के ज्ञाता, व्याख्याता जन अपनी न्यूनाधिक बुद्धि वैभव के कारण कुछ तो जान पाते हैं, कोई केवल उन तक पहुँच पाते

हैं, और अन्य उनका रास्ता ही ढूँढते होते हैं। इससे होता यह है कि वे रहस्य, रहस्य ही बनकर रह जाते हैं या विकृत हो जाते हैं वही कुछ हाल गंगा दशहरा के माहात्म्य का है।

गंगा की उत्पत्ति कब हुई, कैसे हुई यह विवेच्य विषय महत् निबन्ध की पृथक् अपेक्षा रखता है। **यहाँ पर मात्र गंगा दशहरा पर नहाने से दश पापों का नाश होता है इस पर ही कुछ प्रकाश डालना है।** मनुष्य की चेष्टायें अनगिनत होती हैं चाहे वे शुभ हों, चाहे अशुभ हों, यदि शुभ बहुत हैं तो शुभ कार्य भी बहुत होंगे, यदि अशुभ बहुत हैं, तो पाप भी अनगिनत होंगे, और गंगा दशहरा का स्नान केवल दश पापों को ही दूर करेगा, अन्यों को नहीं, इस प्रकार के कथन से किसी भी बुद्धिजीवी को शंङ्का होनी सम्भव है कि जिस गंगा के लिये–

गङ्गा गङ्गेति यो ब्रूयात् योजनानां शतैरपि।
मुच्यते सर्वपापेभ्यो विष्णुलोकं स गच्छति।।

ब्रह्म पु० १७५।८२।।

ऐसा कहकर स्तोत्रों में गंगा को सर्वपापमोचक बताया गया है तो पुनः यह कैसा गंगा दशहरा के स्नान से दश पापों की ही मुक्ति का कथन है?

गंगा के माहात्म्य को जानने से पहले सर्वप्रथम तो हम यह दृष्टिगत कर लें, कि जल से मात्र शरीर की शुद्धि होती है। चाहे वह जल गंगा, यमुना आदि का हो, या साधारण। तात्पर्य यह हुआ कि मल, मूत्र, फोड़े, फुंसी आदि मैल ही जल से दूर होते हैं मानसिक, वाचिक, हस्तपादादि शरीर अवयवों से होने वाले पाप नहीं, जैसा कि धर्मशास्त्र प्रणेता मनु महाराज ने लिखा है –

अद्भिर्गात्राणि शुद्ध्यन्ति मनः सत्येन शुद्ध्यति।
विद्यातपोभ्यां भूतात्मा बुद्धिर्ज्ञानेन शुद्ध्यति।।

मनु० ५।१०९

अर्थात् **अद्भिः**- जलों से, **गात्राणि शुद्ध्यन्ति**=शरीर की शुद्धि होती है, **सत्येन**=सत्य से, **मनः**= मन, **शुद्ध्यति**=शुद्ध होता है, **विद्यातपोभ्याम्**=विद्या तथा तप = धर्मानुष्ठान से, **भूतात्मा**=जीवों का आत्मा, शुद्ध होता है, और **ज्ञानेन**=ज्ञान-विवेक से, **बुद्धिः शुद्ध्यति**= बुद्धि पवित्र होती है।

मनु महाराज के इस वचन ने दूध का दूध, पानी का पानी करके शुद्धि की, पाप मुक्ति की हमारी सारी शंकाओं को साफ कर दिया है, समाप्त कर दिया है। साथ ही यह भी स्पष्ट हो गया कि शरीर शुद्धि के साथ-साथ आत्मा और बुद्धि का शुद्ध होना भी अनिवार्य है तभी मनुष्य निष्कलंक, निष्पाप बन सकता है।

मनु महाराज ने मनुस्मृति के १२ वें[1] अध्याय के ५-८ श्लोकों में (१) दूसरे के द्रव्य को अन्याय से लेने का मन से विचार करना, (२) मन से निषिद्ध कार्य = ब्रह्म हत्या आदि करने की इच्छा करना, (३) असत्य हठ यथा परलोक इत्यादि कुछ नहीं है, यह देह ही आत्मा है इत्यादि दुराग्रह करना ये तीन मानसिक पाप गिनाये हैं उनकी शुद्धि मनु० ५।१०६ में कहे गये सत्य से ही सम्भव है, जल से नहीं, तथा (१) कटु बोलना, (२) झूठ

---

१. **परद्रव्येष्वभिध्यानं मनसानिष्टचिंतनम्।**
वितथाभिनिवेशश्च त्रिविधं कर्ममानसम्।। मनु० १२।५॥
पारुष्यमनृतं चैव पैशुन्यं चापि सर्वशः।
असम्बद्धप्रलापश्च वाङ्मयं स्याच्चतुर्विधम्।। मनु० १२।६॥
अदत्तानामुपादानं हिंसा चैवाविधानतः।
परदारोपसेवा च शारीरं त्रिविधं स्मृतम्।। मनु० १२।७॥
मानसं मनसैवायमुपभुङ्क्ते शुभाशुभम्।
वाचा वाचाकृतं कर्म कायेनैव च कायिकम्।। मनु० १२।८॥

बोलना, (३) चुगली करना, (४) असम्बद्ध बातें करना ये वाचिक चार पाप परिगणित किये हैं, एवं शरीर के अवयवों से होने वाले तीन दोष (१) बिना दी हुई दूसरे की वस्तु को लेना, (२) शास्त्र वर्जित हिंसा करना, (३) परस्त्री का उपभोग करना, वर्णित किये हैं उन मानसिक, वाचिक एवं शारीरिक १० दोषों की पवित्रता भी विद्या, तप और ज्ञान से ही होती है जल से नहीं, इसका हम सबको अनुभव है।

इस प्रकार गंगा दशहरे के दिन गंगा में स्नान करने से कायिक, वाचिक, मानसिक दोषों से मुक्ति मिलती है यह कथन मात्र हमारी अन्ध परम्परा एवं अज्ञता का ही परिचायक है और मनु महाराज के पवित्रता विषयक तथ्य से हम कितने दूर हैं इसका परिलक्षक है।

अब देखें गङ्गा दशहरा शब्द का रहस्य -

आधिदैविक, आधिभौतिक, आध्यात्मिक भेद से गङ्गा तीन प्रकार की है। हमारे शरीर में वर्तमान इडा नाड़ी आध्यात्मिक गङ्गा है यथा–

इडा गङ्गेति विज्ञेया पिङ्गला यमुना नदी।
मध्ये सरस्वतीं विद्यात्प्रयागादिसमस्तथा॥

शिवस्व० ३७४॥

अर्थात् इडा, पिंगला एवं सुषुम्णा ये तीन नाड़ियाँ ही गङ्गा, यमुना, सरस्वती इन नामों से जानी जाती हैं। मनुष्य के शरीर में ७२ हजार नाड़ियाँ स्थित हैं, उनमें इडा, पिङ्गला एवं सुषुम्णा तीन महत्वपूर्ण हैं, यथा–

तासां मध्ये दश श्रेष्ठा दशानां तिस्र उत्तमाः।
इडा च पिङ्गला चैव सुषुम्णा च तृतीयिका॥

शिवस्व० ३६॥

इडा नाड़ी वाम पार्श्व वाली है, पिङ्गला दक्षिण पार्श्व से सम्बन्धित है। इडा नाड़ी में चन्द्रस्वर स्थित है और पिङ्गला में सूर्यस्वर स्थित है, तथोक्तम् -

इडा वामे च विज्ञेया पिङ्गला दक्षिणे स्मृता।
इडायां तु स्थितश्चन्द्रः पिङ्गलायां च भास्करः।।

शिवस्व० ४६, ५०।।

शरीर में प्राण, अपान आदि १० वायु स्थित हैं, इन वायुओं को इडा तथा पिङ्गला समावस्था प्रदान करती हैं और शरीर को रोग मुक्त रखती हैं। इडा, पिङ्गला के सुव्यवस्थित कार्यों से सुषुम्णा जागृत होती है जो पूरे शरीर को नीरोग बनाती है। यह इडा आदि नाड़ियाँ दश वायुओं को किस प्रकार शुद्ध कर शरीर को स्वस्थ बनाती हैं, इसका भी बड़ा सुन्दर विवेचन है-

शुक्लपक्षे भवेत् वामा कृष्णपक्षे च दक्षिणा।
जानीयात् प्रतिपत्पूर्वं योगी तद्यतमानसः।। आदि----।

शिवस्व० ६५।।

अर्थात् शुक्लपक्ष की प्रतिपदा से ३ दिन तक सूर्योदय से एक होरा पर्यन्त चन्द्रस्वर चले, ततः ३ दिन तक सूर्योदय से एक होरा पर्यन्त सूर्यस्वर चले अर्थात् प्रथमा, द्वितीया, तृतीया, सप्तमी, अष्टमी, नवमी, त्रयोदशी, चतुर्दशी, पूर्णिमा को सूर्योदय से एक घण्टे तक चन्द्रस्वर चले और चतुर्थी, पञ्चमी, षष्ठी, दशमी, एकादशी, द्वादशी को सूर्योदय से एक घण्टे तक सूर्यस्वर चले। इसी प्रकार कृष्ण पक्ष की प्रतिपदा से ३ दिन तक सूर्यस्वर चले ततः ३ दिन तक चन्द्रस्वर चले, पूर्वक्रम के अनुसार, तो यह प्राणादि दश वायुएँ ठीक रहती हैं, शुद्ध, पवित्र रहती हैं इनके पवित्र रहने से शरीर स्वस्थ रहता है अतः यह इडा नाड़ी गंगा दशहरा हुई, 'दश प्राणानां दोषान् हरति, दूरं नयतीति दशहरा, गङ्गा चासौ दशहरा च इति गंगा

दशहरा' यह व्युत्पत्ति लभ्य अर्थ **इडा=गंगा नाड़ी में** भली-भाँति समझा जा सकता है।

आधिदैविक गंगा=स्वर्ग=द्युलोक से बरसने वाले जल का स्थान द्युलोक है। जिसका वर्णन सुश्रुत में भी **'तत्पुनर्द्विविधं गाङ्गं सामुद्रं चेति, तत्र गाङ्गमाश्वयुजे मासि प्रायशो वर्षति'** सुश्रु० सूत्र० ४५।७, इन शब्दों में किया गया है।

अन्तरिक्ष तथा द्युलोक को गंगा या सागर कहा जाता है। उससे बरसने वाला जल गाङ्ग जल या सामुद्र जल हुआ। उन जलों को इकट्ठा करने वाला जो वायु है वह **गंगा दशहरा** है क्योंकि वह वायु **गङ्गा स्थितं जलं दशसु दिक्षु हरति नयति इति गंगा दशहरा**, अर्थात् गंगा के जल को सभी दिशाओं में ले जाने के कारण **उस वायु को गंगा दशहरा नाम से जानना चाहिए।** इसी वायु को श्रेष्ठ परिवह नाम से शास्त्रों में कहा गया है, तथाहि-

श्रेष्ठः परिवहो नाम तेषां वायुरपाश्रयः।
योऽसौ बिभर्त्ति भगवान् गङ्गामाकाशगोचराम्।
दिव्यामृतजलां पुण्यां त्रिधा स्वर्गपथे स्थिताम्।।

वायु० ५१।४६।।

अर्थात् श्रेष्ठ परिवह नामक वायु उन वृष्टियों का आश्रय स्थान है। जो यह परिवह भगवान् स्वर्गपथ में स्थित धाराओं वाली दिव्य, पवित्र और अमृत आकाश में स्थित गंगा को धारण करता है।

तीसरी गंगा आधिभौतिक गंगा है जो कुमायूँ हिमालय में गंगोत्री के समीप एक हिम गुफा है वहाँ से निकलती है। जो उत्तर भारत के स्थानों में होती हुई पूर्व भारत में बंगाल की खाड़ी में गिरती है। **इस जानी मानी गंगा नदी से दशहरा शब्द का कोई भी सम्बन्ध नहीं है। गंगा शब्दसाम्य देखकर आध्यात्मिक तथा आधिदैविक गंगाओं के माहात्म्य के साथ इस आधिभौतिक गंगा को जोड़ दिया गया है, यह शास्त्रों से सुस्पष्ट**

है। और जो गंगा स्तोत्रों में सर्वपाप–मुक्ति का विशद वर्णन है वह मल, मूत्र, धूल, रोगादि की शुद्धता में ही जानना चाहिए।

वैदिक वाङ्मय के आधिदैविक, आध्यात्मिक रहस्यों को, ज्ञानों को स्थूल भौतिक पदार्थों में इस प्रकार गडमगड कर दिया गया है कि अब उसको अलग कर पाना भी कठिन है, जिसके कारण अज्ञानता की भरमार है। इस अज्ञान को दूर करने के लिए ऐसे हंस जीव की आवश्यकता है, जिसे वेद में **'हंसः शुचिषद्'** यजु० १२ । १४, कहा गया है जो पवित्र आत्मा होता हुआ ज्ञान से अज्ञान को पृथक् कर सके, तभी वेदज्ञान की रक्षा सम्भव है[1]।

प्राण एव परं मित्रं प्राण एव परः सखा।
प्राण-तुल्यः परो बन्धुर्नास्ति नास्ति वरानने।।

शिवस्व० २१६।।

अर्थात् हे सुन्दर मुख वाले जीव! प्राण ही परम स्नेही है, प्राण ही बड़ा साथी है, प्राण के सदृश दूसरा भाई नहीं है।

---

1. दैनिक पत्र 'आज' में २ तथा १४ जुलाई २००० पृ० ६, पृ० ६ पर क्रमशः प्रकाशित।

झूठ! सफेद झूठ! कृपया खेद प्रकाश करें!

अभी २० अप्रैल २००० को 'दैनिक जागरण' के 'महानगर' शीर्षक से प्रकाशित विशेषांक में 'भोले बाबा आन लाइन' नामक लेख 'आशीष बागची' महोदय का छपा है। इस लेख में श्री बागची जी ने तथाकथित शिवलिङ्ग की महत्ता को दर्शाने में इतिहास के पन्नों को जोड़ा है तथा जगप्रसिद्ध महापुरुषों की भीड़ का झंझावात भी खड़ा किया है और इसी झंझावात में वे 'महर्षि दयानन्द सरस्वती' को भी लपेट ले गये हैं। वे लिखते हैं—'आदि शंकराचार्य से लेकर स्वामी रामकृष्ण परमहंस, ...। दयानन्द सरस्वती, गुरुनानक के द्वारा यह लिङ्ग पूजित है।'

खेद है लेखक ने 'दयानन्द सरस्वती' का नाम लेते हुये थोड़ा भी विचार नहीं किया। आखिर दयानन्द सरस्वती कौन हैं? आज विश्व का हर देश, हर प्रान्त, हर नगर जानता है, पहचानता है कि—

(१) शिवलिङ्ग पर मल, मूत्र त्यागते, नैवेद्य खाते चूहे को देखकर 'बालक मूलशंकर' को जो ग्लानि और वितृष्णा हुई उससे जो एक व्यक्तित्त्व और अस्तित्त्व बना वह युगपुरुष 'महर्षि स्वामी दयानन्द सरस्वती' था।

(२) शिव अर्थात् कल्याणकारी निराकार परमात्मा की शिवलिङ्ग के रूप में पूजा करने को अकर्मण्यता की संज्ञा देने वाला तथा शिवलिङ्ग की पूजा को देखकर सच्चे शिव की खोज करने वाला विश्व में यदि कोई है तो वह एकमात्र 'दयानन्द' है।

(३) शिवलिङ्ग पूजा की निस्सारता को जान काशी में ७ बार पधारकर समस्त मूर्तिपूजकों को ललकारने वाला 'ऋषिवर दयानन्द' ही है।

(४) उदयपुर के महाराणा सज्जनसिंह के आग्रह पर भी एकलिङ्ग महादेव के महन्त की गद्दी को ठुकराने वाला सच्चा ईश्वरोपासक 'दयानन्द' ही था।

(५)इतिहास के पृष्ठों में निराकार, सर्वव्यापक ओ३म् पदवाच्य परमात्मा के उपासक के रूप में यदि किसी का नाम है तो पाखण्ड खण्डिनी पताका फहराने वाले **'दयानन्द'** का है।

ऐसे वेदोद्धारक जगद्गुरु महर्षि स्वामी दयानन्द सरस्वती के द्वारा **'शिवलिङ्ग पूजित'** है ऐसा लेखक का लिखना कितना सफेद झूठ और इतिहास पर पर्दा डालने वाली बात है!

जिस व्यक्ति का मूर्तिपूजा के विरोध में अस्तित्त्व और व्यक्तित्त्व खड़ा हो उसे मूर्तिपूजक सिद्ध करना कैसी विडम्बना है? यह तो ठीक है कि इस आर्यावर्त्त देश के ऋषियों की गणना में, सुधारकों की पंक्ति में, वेदों के व्याख्याताओं में, वेदोद्धारकों में, गुरुओं की संख्या में, महापुरुषों की रेखाओं में **'महर्षि दयानन्द'** का नाम लिये बिना वे पंक्तियाँ अधूरी ही रहेंगी, पर मूर्तिपूजकों की लाइन में महर्षि दयानन्द सरस्वती की धूल भी नहीं दिखायी देगी।

इस ऐतिहासिक भूल के लिये मुझे बड़ा आश्चर्य और अरुन्तुद कष्ट है। इसके उत्तरदायी लेखक और सम्पादक दोनों हैं। स्मरण रहे सम्पादक, लेखक तथा पत्रकार इतिहास के दर्पण होते हैं, समाज और साहित्य के प्रतिनिधि होते हैं, उनसे ऐसी भूल?

मैं आशा करती हूँ कि लेखक और सम्पादक अपनी इस भूल के लिये खेदप्रकाश अवश्य करेंगे जिससे सत्य का प्रकाश हो सके।

'दैनिक जागरण' के सम्पादक का खेदप्रकाश—

मूर्तिपूजा के विरोधी को मूर्तिपूजक सिद्ध करना सबसे बड़ी विडम्बना

20 अप्रैल, 2000 को 'जागरण महानगर' के विशेषांक में 'भोले बाबा आन लाइन' शीर्षक आलेख में शिवलिंग की महत्ता को दर्शाने के क्रम में इतिहास के पन्नों को लेखक ने जोड़ा है। इस क्रम में लेखक ने 'महर्षि दयानंद सरस्वती' को भी लपेट दिया है और लिखा-'आदि शंकराचार्य से लेकर स्वामी रामकृष्ण परमहंस....दयानंद

पाठक की राय

सरस्वती गुरुनानक के द्वारा यह लिंग पूजित है।'

जबकि हकीकत यह है कि-

1. शिवलिंग पर मल मूत्र त्यागते, नैवेद्य खाते चूहे को देखकर 'बालक मूलशंकर' को जो ग्लानि और वितृष्णा हुई उससे जो एक व्यक्तित्व और अस्तित्व बना वह युगपुरुष 'महर्षि स्वामी दयानन्द सरस्वती' थे।

2. शिव अर्थात कल्याणकारी परमात्मा की शिवलिंग के रूप में पूजा करने को अकर्मण्यता की संज्ञा देने वाले तथा शिवलिंग की पूजा को देखकर सच्चे शिव की खोज करने वाले विश्व में यदि कोई हैं तो वह एकमात्र दयानंद हैं।

3. शिवलिंग-पूजा की निस्सारता को जान काशी में सात बार पधार कर समस्त मूर्तिपूजकों को ललकारने वाले ऋषिवर दयानंद हैं।

4. उदयपुर के महाराणा सज्जन सिंह के आग्रह पर भी एक लिंग महादेव के महंत की गद्दी को ठुकराने वाले सच्चे ईश्वरोपासक दयानंद ही थे।

ऐसे वेदोद्धारक जगद्गुरु महर्षि स्वामी दयानंद सरस्वती के द्वारा 'शिवलिंग पूजित है' लिखना सफेद झूठ और इतिहास पर पर्दा डालने वाली बात है। यह तो ठीक है कि इस आर्यावर्त देश के ऋषियों की गणना में, सुधारकों की पंक्ति में वेदों के व्याख्याताओं में वेदोद्धारकों में गुरुओं की संख्या व महापुरुषों की रेखाओं में महर्षि दयानन्द का नाम लिये बिना वे पंक्तियां अधूरी ही रहेंगी पर मूर्तिपूजकों की लाइन में महर्षि दयानंद सरस्वती की धूल भी नहीं दिखाई देगी।-सूर्या देवी 'विद्या मार्तण्ड', पाणिनी कन्या महाविद्यालय, वाराणसी

□सूर्या देवी ने उल्लिखित लेख के जिस अंश को उद्धृत किया है उसे श्री काशी विश्वनाथ मंदिर द्वारा प्रकाशित वर्ष 1999 की अधिकृत डायरी से लिया गया है। फिर भी सूर्या देवी जी ने जो आपत्तियां उठायी हैं वे जायज व तर्क संगत हैं। दरअसल जिस व्यक्ति का मूर्ति पूजा के विरोध में अस्तित्व और व्यक्तित्व खड़ा हो उसे मूर्तिपूजक सिद्ध करना विडम्बना ही कही जायगी।

-संपादक

१. दैनिक पत्र 'दैनिक जागरण के जागरण महानगर' स्तम्भ में १८ मई २००० पृ० ७ पर प्रकाशित।

मन्त्र के 'गायत्री' नाम का औचित्य

मानव जीवन के लक्ष्य सच्चिदानन्द, नित्य, शुद्ध, बुद्ध, मुक्त 'ओ३म् पदवाच्य' परमात्मा को प्राप्त करने में सहायक एवं सन्ध्या का सार कहा जाने वाला मन्त्र ऋक्०, यजु:०, साम० में आया है, जिसके अनेकविध नाम हैं, यथा—गायत्री, सावित्री, गुरुमन्त्र, मन्त्रराज, वेदमुख, कामधेनु आदि। इस गायत्री मन्त्र का ऋ० ३।६२।१०, यजु० ३।३५, २२।९, ३०।२, साम० उ० १४६२ में **'तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि। धियो यो नः प्रचोदयात्।'** इस प्रकार पाठ है, तथा यजु० ३६।३ में 'भूर्भुवः स्वः' इन व्याहृतियों सहित पाठ है।

सम्माननीय स्वामी परमानन्द सरस्वती जी, उड़ीसा ने सन् २००० की विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में **यजु० ३६।३ मन्त्र को गायत्री मन्त्र कथन का क्या औचित्य है?** यह प्रश्नरूप से प्रकाशित किया है। प्रश्न में प्रस्तुत मन्त्र को गायत्री मन्त्र क्यों न कहें, आदि कोई विशेष विवरण न होने से प्रश्न अपूर्ण है, तथापि इस मन्त्र को गायत्री मन्त्र कथन में जो हेतु हैं, उनमें से समास रूप से समाधान प्रस्तुत हैं—

(१) देवतानुसार तथा
अन्वर्थ = योगरूढ } गायत्री संज्ञा—

१. (क) यजु० ३६।३ मन्त्र का गायत्री नाम देवता = 'प्रतिपाद्य विषय' के निमित्त से है। जैसे सविता देवता होने से सावित्री नाम है, तथैव मन्त्र में सविता नाम स्पष्ट होने पर भी गायत्री अभिधान भी प्राण रक्षा के तात्पर्य से होगा। जैसा कि वेंकट माधव ने ऋग्वेदानुक्रमणी के देवतानुक्रमण में लिखा है—

"श्रुतेऽपि नाम्न्यतात्पर्ये न सा भवति देवता॥"

ऋग्वेदा० ७।३।८॥

अर्थात् ऋचा में देवता नाम स्पष्ट पठित होने पर भी उस देवता में तात्पर्य न होने पर, उस ऋचा का वह देवता न मानकर, जिसमें तात्पर्य हो, उस देवता वाली वह ऋचा होती है।

इस प्रकार प्राण रक्षा में भी ऋषियों का तात्पर्य विशिष्ट होने से ऋषि-महर्षियों ने सर्वत्र इस मन्त्र को गायत्री मन्त्र की संज्ञा दी है।

(ख) भूः शब्द का अर्थ प्राण है- "**भूरिति वै प्राणः।**" तैत्ति० उप० १।५।३)। प्राणों को गय कहते हैं- "**प्राणा वै गयाः।**" शत० ब्रा० १४।८।१५।७)। तो **प्राण=गय का प्रतिपादन होने से, यह ऋचा गायत्री** कहलायी, क्योंकि इस मन्त्र के द्वारा प्राणों का प्राण परमात्मा प्रार्थनीय होने से **प्राण रक्षा की भी प्रार्थना जानी जाती है, अतएव यह मन्त्र गायत्री मन्त्र है,** यथा—

तत्प्राणांस्तत्रे, तद्यत् गयांस्तत्रे, तस्मात् गायत्री नाम, स याम् एव अमूमन्वाह एषैव सा, स यस्माऽअन्वाह तस्य प्राणांस्त्रायते॥

शत० ब्रा० १४।८।१५।७॥

अर्थात् वह प्राणों की रक्षा करती है, वह जो गयों की रक्षा करती है अतः उसका नाम **'गायत्री'** है। आचार्य जिस सावित्री का उपदेश करता है वह यही गायत्री है। यह जिसको सिखाई जाती है, उसके प्राणों की रक्षा करती है।

शतपथ के इस वचन से स्पष्ट है कि इस ऋचा से प्राणों की रक्षा होती है, **अतः यह ऋचा गायत्री नाम वाली है।** इस प्राण रक्षक गायत्री ऋचा को ही आचार्य शिष्य को उपदिष्ट करता है।

२. मन्त्रों के देवता=प्रतिपाद्य विषय रूढि नहीं होते हैं, जैसा कि यास्क महर्षि ने "**अपि वा सा कामदेवता स्यात्, प्रायो देवता वा, अस्ति हि आचारो बहुलं लोके।**" निरु० ७।१।१४, में स्पष्ट किया है, अर्थात् मन्त्रों के देवता इच्छानुकूल होते हैं। तदनुसार यजु० **३६।३ का मन्त्र गय=प्राण देवता वाला भी है, अतः गायत्री संज्ञा इस मन्त्र की है।**

(२) छन्दानुसार गायत्री संज्ञा—

१. **"भूर्भुवः स्वः। तत्सवितुर्वरेण्यम्०"** इस व्याहृति युक्त मन्त्र में २७ अक्षर हैं, २८ अक्षर नहीं हैं। तो यहाँ २७ अक्षर होने से एक अक्षर न्यून वाला **'विराड् उष्णिक्'** छन्द भी सम्भव हो सकता है, और २६ अक्षर का **'स्वराड् गायत्री'** छन्द होता है, अतः २६ से एक अक्षर अधिक होने पर भी **स्वराड् गायत्री** छन्द भी कहा जा सकता है, क्योंकि—

"न वा एकाक्षरेण छन्दांसि वियन्ति न द्वाभ्याम्" ऐ०ब्रा० १।६॥

अर्थात् एक वा दो अक्षरों से छन्द भिन्न नहीं होता है।

अब यह सन्देह रहता है कि यहाँ इन दोनों छन्दों में से कौन सा छन्द है। ऐसे स्थलों में सन्देह की निवृत्ति के लिये छन्दःशास्त्र के प्रणेता पिङ्गल महर्षि ने समाधान लिखे हैं—

आदितः सन्दिग्धे॥

पिङ्गल सू०३।६१॥

अर्थात् सन्दिग्ध छन्दों का निश्चय आदि पाद के अनुसार होता है।

सो यहाँ भूर्भूवः स्वः० मन्त्र का प्रथमपाद ८ अक्षर का है **अतः यह मन्त्र 'स्वराड् गायत्री' छन्द वाला होने से गायत्री नाम से अभिहित है।** उष्णिक् में निश्चित रूप से आदि पाद में ही ८ अक्षर का होना अनिवार्य नहीं होता है—

अत्र च क्रमो न विवक्षितः॥

हलायुध भट्ट, पिङ्गल सू. ३।१८॥

अर्थात् उष्णिक् छन्द में क्रम विवक्षित नहीं होता है कि पाद के आदि में ही ८ अक्षर होवें।

मन्त्रों में पाद व्यवस्था अर्थानुसारी होती है और पादज्ञान तीन हेतुओं से होता है, उनमें एक हेतु अर्थ भी है, यथा—

प्रायोऽर्थो वृत्तमित्येते पादज्ञानस्य हेतवः।
विशेषसन्निपाते तु पूर्वं पूर्वं परं परम्॥

ऋक्प्रा० १७।२५,२६, ऋग्वेदा० ६।७।१४॥

अर्थात् **प्रायः**=अधिकार, प्रकरण, **अर्थ**=अन्वय और **वृत्त** (लघु-गुरुभाव) ये पादज्ञान के तीन हेतु हैं। इनमें परस्पर विरोध होने पर पूर्व-पूर्व अधिक बलवान् होता है।

तदनुसार मन्त्र की पाद व्यवस्था इस प्रकार समझेंगे—

भूर्भुवः स्वः तत् सवितुः, प्रथम पाद।

वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि, द्वितीय पाद।

धियो यो नः प्रचोदयात्। तृतीय पाद।

इस प्रकार सापेक्ष '**तत्**' शब्द की '**सवितुः**' पद में अर्थ '**सन्निधि**' होने से वहाँ तक प्रथम पाद होगा।

देवतादितश्च।

पिङ्गल सू० ३।६२॥

अर्थात् छन्द में सन्देह होने पर मन्त्र के स्वर, वर्ण, देवता आदि से छन्द का निश्चय किया जाता है।

पिङ्गलाचार्य ने गायत्री आदि सातों छन्दों के देवता इस प्रकार बताये हैं—

अग्निः सविता सोमो बृहस्पतिर्मित्रावरुणाविन्द्रो विश्वेदेवा देवताः।

पिङ्गल सू० ३।६३॥

अर्थात् गायत्री आदि छन्दों के क्रमशः गायत्री का अग्नि, उष्णिक् का सविता आदि देवता होते हैं।

मन्त्र में प्रथमपद भूः है। 'भूः' अग्नि को कहते हैं—

भूरिति वा अग्निः।

तैत्ति०आ० ७।५।२, तै०उ० १।५।२॥

अर्थात् भूः यह अग्नि का वाचक है।

इस प्रकार महर्षि पिङ्गल के अनुसार यजु० ३६।३ मन्त्र का देवता अग्नि है, **अतः यह मन्त्र गायत्री छन्द में होने से गायत्री नाम से जाना जाता है।**

इसी प्रकार निदान सूत्रकार पतञ्जलि ने भी सन्दिग्ध छन्द के निश्चय के विषय में लिखा है—

चतुष्टयेन छन्दो जिज्ञासेत पदैरक्षरैर्वृत्या स्थानेनेति।
तेषामेकैकस्मिन् दुष्यति शेषेणैव जिज्ञासेत॥

निदान सू० १।६॥

अर्थात् छन्दोज्ञान पद, अक्षर, वृत्ति=वृत्त तथा स्थान=विनियोग स्थल इन चार उपायों से होता है, इनमें से एक-एक के दूषित होने पर शेष से ज्ञान करे।

२. इस मन्त्र में '**ओ३म् भूः भुवः स्वः**' ये चार व्याहृतियाँ हैं ऐसा जाना जाता है, यथा--

चतुर्णां वेदानामानुपूर्वेण ओ३म् भूः भुवः स्वरिति व्याहृतयः।

गो०ब्रा० १।१।२७॥

अर्थात् चारों वेदों की क्रमशः ओ३म्, भूः, भूवः, स्वः ये व्याहृतियाँ होती हैं।

यहाँ **ओ३म्** तथा **भूः** गायत्री छन्द वाले हैं, यथा—

एकाक्षर ओ३म्.....। किं छन्दः? गायत्रं हि छन्दो गायत्री वै देवानाम् एकाक्षरा। भूरिति व्याहृतिर्गायत्रं छन्दः।

गो० ब्रा० १।१।२६,२७,१७॥

अर्थात् ओ३म् एक अक्षर वाला है....। इसका छन्द क्या है? गायत्र छन्द है। देवों का गायत्री छन्द एक अक्षर वाला है। भूः यह व्याहृति गायत्र छन्द में है।

इस मन्त्र का शेष भाग "तत्सवितु०" आदि मन्त्र **निचृत् गायत्री** में है ही, और **भुवः** का **त्रिष्टुप्** तथा **स्वः** का जगती छन्द है, (गोपथ १।१।१८,१९)। पुनरपि सम्पूर्ण मन्त्र को गायत्री मन्त्र ही कहा जायेगा पूर्वोक्त प्रमाणानुसार, क्योंकि मन्त्र का प्रथम पाद 'भूः' **दैवी गायत्री** छन्द वाला है।

(३) आप्तप्रमाणानुसार गायत्री संज्ञा—

'**आप्तोपदेशः शब्दः**' किसी भी कथन की प्रामाणिकता में आप्तों का कथन प्रामाणिक होता है, तथाहि—

(क) १. महर्षि दयानन्द ने वेदारम्भ संस्कार में इस मन्त्र का उपदेश करने से पूर्व लिखा है—

"नीचे लिखे प्रमाणे बालक को तीन बार करके गायत्री मन्त्रोपदेश करे। प्रथम बार—ओ३म् भूर्भुवः स्वः तत् सवितुर्वरेण्यम्। .... आदि।"

यहाँ पर महर्षि ने "गायत्री मन्त्रोपदेश" इस व्याहृति सहित सम्पूर्ण मन्त्र के लिये प्रयोग किया है, अतः इस मन्त्र को गायत्री मन्त्र कहना ठीक है।

२. इसी प्रकार पञ्चमहायज्ञविधि में—"ओ३म् भूर्भूवः स्वः०" मन्त्र लिखकर "अस्य सर्वोत्कृष्टस्य गायत्रीमन्त्रस्य संक्षेपेणार्थ उच्यते" ऐसा लिखा है, यहाँ पर भी महर्षि ने इस मन्त्र की "गायत्री मन्त्र" संज्ञा दी है।

३. पिता-माता वा अध्यापक अपने लड़का-लड़कियों को अर्थ सहित "गायत्री मन्त्र" का उपदेश कर दें, वह मन्त्र [यह] है—

"ओ३म् भूर्भुवः स्वः। तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि।
धियो यो नः प्रचोदयात्॥"

यजु० ३६।३॥, सत्यार्थ० तृ० पृ० ३७॥

इस स्थल में भी इस मन्त्र का "गायत्री नाम दिया महर्षि ने।" अतः ये आप्त कथन इस मन्त्र के गायत्री नाम में प्रमाण हैं।

(ख) १. तस्मात् एतां गायत्रीमेव सावित्रीमनुब्रूयात्॥

शत० ११।५।४।१३॥

२. त्रिरात्रं वा सावित्रीं गायत्रीमन्वातिरेचयति..... इति॥

तैत्ति० आ० २।१६॥

३. गायत्रीमेव सावित्रीमनुब्रूयात्॥

बृहदा०उप० ५।१४।५॥

४. ओमिति प्रतिपद्य....भूर्भुवः सुवरित्याह। सावित्रीं गायत्रीं त्रिरन्वाह॥

आश्व०गृ०सू० ३।३॥

५. सर्वेषां वा गायत्रीम्॥

पारस्कर गृ० २।३।१०॥

६. सव्याहृतिकां सप्रणवां गायत्रीं शिरसा सह।
ये जपन्ति सदा तेषां न भयं विद्यते क्वचित्॥

शङ्खस्मृति १२।१८॥

इन शतपथादि वचनों में सर्वत्र सावित्री को ही गायत्री नाम से कहा गया है।

इस प्रकार उपर्युक्त विवेचन के आधार पर यजु० ३६।३ को गायत्री मन्त्र कहना उचित प्रतीत होता है।

गायत्री ज़प का फल—

एतदक्षरमेतां च जपन् व्याहृति-पूर्विकाम्।
सन्ध्ययोर्वेदविद् विप्रो वेदपुण्येन युज्यते॥
सहस्त्र-कृत्वस्त्वभ्यस्य बहिरेतत् त्रिकं द्विजः।
महतोऽप्येनसो मासात् त्वचेवाहिर्विमुच्यते॥

मनु० २।७८,७९॥

अर्थात् दोनों सन्ध्याओं के समय ओङ्कार, व्याहृति पूर्वक गायत्री का जप करने वाला, वेदज्ञविद्वान् वेदज्ञान का पुण्य प्राप्त करता है।

इस त्रिक = ओङ्कार, व्याहृति पूर्वक गायत्री का नगरादि से बाहिर सहस्त्र बार जप करके मास भर में द्विज महापापों से छुट जाता है, जैसे सर्प कैंचुली से निर्मुक्त हो जाता है।

चुनौती को चुनौती

'शास्त्रार्थ की खुली चुनौती' इस शीर्षक से पं. बटुक प्रसाद शर्मा शास्त्री, वाराणसी ने सिद्धान्त पत्रिका के धर्मान्तरण विचाराङ्क, जनवरी-फरवरी सन् २००१, पृ० ६८ में अपना लेख प्रकाशित किया है। लेख में यह प्रतिपादित करने का प्रयत्न किया गया है कि **'नारियों को वेद पढ़ने का अधिकार नहीं है, उन्हें प्रणव एवं गायत्री जपने का और यज्ञोपवीत धारण करने का भी विधान नहीं है।** प्रमाण के लिये लेखक ने वराह पुराण, बाधूल स्मृति तथा नृसिंहपूर्वतापिनी उपनिषद् तथा यत्र-तत्र मनुस्मृति के प्रक्षिप्ताप्रक्षिप्त श्लोकों को उद्धृत किया है, साथ ही लेखक ने उन उद्धृत प्रमाणों को भगवान् की आज्ञा कहा है। लेखक का यह लेख प्रमत्त प्रलापवत् अनर्गल बातों से भरा हुआ है।

पण्डित महानुभाव के ऊल-जलूल प्रमाणों से भरपूर पंक्तियों को उद्धृत न करके सर्वप्रथम यही निश्चय कर लें, कि भगवान् कौन है? ईश्वर कौन है और उसकी वाणी कौन सी है?

वेदादि शास्त्रों के अनुसार परमपिता परमात्मा सबसे बड़ा भगवान् है और उसकी आज्ञा-वाणी चारों वेद हैं, पुराण इत्यादि नहीं। योग दर्शन में ईश्वर का लक्षण करते हुये कहा—

क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वरः।

योग० १।२४॥

अर्थात् क्लेश, कर्म, विपाक और उनके आशय से रहित पुरुष विशेष ईश्वर होता है। पुराण और स्मृतियों के रचयिता क्लेश आदि से रहित न होने से ईश्वर नहीं कहे जा सकते।

परमपिता परमात्मा जो ईश्वर, सर्वज्ञ आदि अनेक नामों से कहा जाता है, वह ही वेदरूपी शास्त्र को देने वाला है, अतएव वेदान्त दर्शन में—

शास्त्रयोनित्वात्॥

वेदा०द० १।१।३॥

अर्थात् ऋग्वेदादि शास्त्र का योनि = रचयिता होने से ब्रह्म जगत् का निमित्त कारण है।

इस सूत्र के माध्यम से दर्शनकार ने जगन्नियन्ता ब्रह्म=परमात्मा को ऋग्वेदादि चारों वेदों का कारण = निमित्त प्रतिपादित किया है। आद्य शंकराचार्य ने भी निम्न शब्दों में सर्वज्ञ परमेश्वर को वेदज्ञान का कारण बताया है—

महत ऋग्वेदादेः शास्त्रस्यानेकविद्यास्थानोपबृंहितस्य प्रदीपवत् सर्वार्थावद्योतिनः सर्वज्ञकल्पस्य योनिः कारणं ब्रह्म। न हीदृशस्य शास्त्रस्य ऋग्वेदादिलक्षणस्य सर्वज्ञगुणान्वितस्य सर्वज्ञात् अन्यतः सम्भवोऽस्ति॥

शां०भा०वेदा० १।१।३॥

अर्थात् अनेक विद्याओं से परिवर्धित सर्वज्ञ कल्परूप प्रदीप के समान सब अर्थों का द्योतन कराने वाले महान् ऋग्वेदादि शास्त्र का ब्रह्म कारण है। ऐसे ऋग्वेदादि लक्षण वाले शास्त्र का सर्वज्ञ गुणों से युक्त सर्वज्ञ से अतिरिक्त उत्पन्न होना सम्भव नहीं है।

इस प्रकार सिद्ध हुआ कि पुराण, स्मृति आदि को बनाने वालों से भिन्न भगवान् है और वह सर्वज्ञ है। उसके द्वारा दिया गया वेदज्ञान ही उसकी वाणी है। उस वेदवाणी को सबको पढ़ने का अधिकार है।

श्री शास्त्री जी का मानना है कि भगवत्प्रदत्त वेदवाणी को नारियों को पढ़ने का अधिकार नहीं है, वे गायत्री मन्त्र का जप नहीं कर सकतीं। अपनी इस मान्यता के प्रमाण में बटुक शास्त्री ने सर्वप्रथम वराह पुराण का प्रमाण देते हुये कहा—

मोहाद् यः संस्पृशेच्छूद्रो योषिद्वापि कदाचन।
स्वपते नरके घोरे यावदाभूतसंप्लवम्॥

अर्थात् भगवान् की आज्ञा है कि नारी शालग्राम को छूकर पूजा न करे, अन्यथा घोर नरक को प्राप्त होगी।

शास्त्री जी द्वारा उद्धृत पुराण के निषेध को मैं भी उचित मानती हूँ— **'प्रक्षालनाद्धि पंकस्य दूरादस्पर्शनं वरम्'**[1] कीचड़ को धोने की अपेक्षा न छूना ही श्रेयस्कर है, पङ्करूप शालग्राम की पूजा को, जो वेद विरुद्ध है उसकी पूजा तो दूर, न छूना ही नारी के लिये उत्तम है, चाहे वह माता हो या अन्य किसी रूप में, क्योंकि लिङ्ग किसी का भी हो, लिङ्ग तो लिङ्ग है, उसे छूना उत्तम नहीं, स्त्री पुरुष किसी को भी, क्योंकि हम अघोरी तो हैं नहीं, जो उसे छुयेंगे, नहीं तो कुत्ता और मानव में भेद क्या रह जायगा।

अब शास्त्री जी के (वेद विरुद्ध निषेध) कथन का चुनौती के साथ उत्तर इस प्रकार हैं—

जाति ब्राह्मणों द्वारा नारियों को वेदाध्ययन और प्रणव जाप से वञ्चित रखना या उसके निषेध में प्रमाणों को देना तथा तत्पोषक वञ्चनापूर्ण बातों को लिखना और कहना, ईश्वर की आज्ञा का उल्लंघन करना है, तथा अपनी वञ्चकता को स्पष्ट उजागर करना है। जबकि वेद ने स्वयमेव—

ऋतञ्च सत्यञ्चाभीद्धात् तपसोऽध्यजायत।
ततो रात्र्यजायत ततः समुद्रोऽर्णवः॥

ऋ.१०।१९०।१॥

सूर्याचन्द्रमसौ धाता यथापूर्वमकल्पयत्।
दिवञ्च पृथिवीं चाऽन्तरिक्षमथो स्वः॥

ऋ. १०।१९०।३॥

इन मन्त्रों में प्रतिपादित किया है कि उस **धाता**=परमेश्वर ने, **यथापूर्वम्**= पूर्व कल्प के समान, **ऋतम्** = वेद जगत्, **सत्यम्** = सत्ता वाला यह दृश्य जगत्, रात्रि, द्यौ, अन्तरिक्ष बनाये हैं। जब परमात्मा ने उनके निर्माण में पूर्वकल्प या इस कल्प का भेद नहीं किया, तो उसके नियमों में भेद कैसे हो सकता है? जो पूर्वकल्प में नियम, आदेश मानव के लिये थे, वे ही नियम और आदेश इस कल्प में भी रहेंगे।

धर्मार्थं यस्य वित्तेहा वरं तस्य निरीहता।
प्रक्षालनाद्धि पङ्कस्य श्रेयो न स्पर्शनम् नृणाम्॥

महा० वन० २।४९॥

तदनुसार इस कल्प में माताओं और समाज के छोटे भाइयों के लिये गायत्री जप, वेद का अध्ययन, ओ३म् का जप और होम करना ये चारों निषिद्ध हैं यह कहना और इसके प्रमाण में नृसिंहपूर्वतापिनी उपनिषद् का प्रमाण प्रस्तुत करना, मात्र ईश्वर प्रदत्त अधिकारों से वञ्चित करना ही है। कोई भी शास्त्र और बात, वेद के अनुकूल होने पर ही मान्य हो सकती है, क्योंकि वह परमपिता परमात्मा ही सबका आदि गुरु है—

[स एष] पूर्वेषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदात्॥

योग० १।२६॥

तात्पर्य हुआ उस सर्वज्ञ प्रभु गुरु का ज्ञान सर्वविद्य है, सार्वजनिक है। उसकी सृष्टि का कोई भी पदार्थ या ज्ञान किसी व्यक्ति विशेष, जाति विशेष, आकृति विशेष के लिये नहीं है।

वेद का ज्ञान सर्वजनीन है, सबके लिये है, इसका कथन स्वयं परमात्मा करता है, यथा—

यथेमां वाचं कल्याणीमावदानि जनेभ्यः॥

यजु० २६।२॥

अर्थात् **इमां कल्याणीं वाचम्** = इस कल्याणी वाणी को **जनेभ्यः** = जन-जन के लिये, **आ वदानि** = कहता हूँ।

मन्त्र के इस सुस्पष्ट अर्थ को छोड़कर उवट, महीधर ने यहाँ काले पृष्ठ कर डाले, कि '**वाचम्**' का अर्थ '**दीयतां भुज्यताम् इत्येवमादिकाम्**' '**दीजिये, खाइये ऐसी वाणी को**' है, साथ ही यह मान लिया कि यह मन्त्र यजमान की वाणी है, ऐसा उन्होंने अपनी भौतिकतावादी दूषित मानसिक वृत्ति के कारण किया है। बतायें! यह मन्त्र यजमान की वाणी है यह मन्तव्य आप सबका कहाँ से आया। क्या आगे पीछे कहीं ऐसा कहा है, जो आप इस मन्त्र को यजमान की वाणी बता रहे हैं? वेद परमात्मा ने दिये हैं, यह सभी जानते हैं, अतः यह मन्त्र परमात्मा की वाणी है और '**वाचम्**' का अर्थ वेद करना समुचित प्रतीत होता है।

दुर्जन सन्तोष न्याय से आप '**वाचम्**' का अर्थ खाइये, दीजिये, पीजिये,

करना चाहें करें, मन्त्र को यजमान की वाणी मानते हैं, तो मानिये, क्योंकि पण्डों को भोजन के अतिरिक्त सूझता ही क्या है, पर जिन मन्त्रों में सुस्पष्ट वेद शब्द नाम लेकर यह प्रतिपादन है, कि सभी को वेद पढ़ने का अधिकार है उसका क्या करेंगे? यथा—

एते त इन्द्र जन्तवो विश्वं पुष्यन्ति वार्यम्।
अन्तर्हि ख्यो जनानाम् अर्यो वेदो अदाशुषां तेषां नो वेद आ भर॥

अथर्व० २०।५६।६॥

अर्थात् हे इन्द्र! ऐश्वर्यशाली परमेश्वर, **एते जन्तवः** = ये मनुष्य (**जन्तव इति मनुष्यनाम,** निघ० २।३), **ते** = तुम्हें, **विश्वम्** = सभी का, **वार्यम्** = स्वीकार करने योग्य, **पुष्यन्ति** = पुष्ट करते हैं, कहते हैं अर्थात् परमात्मा ही वरण योग्य है ऐसा सभी मानव मानते हैं।

वह **अर्यः** = ईश्वर (**अर्यमिति ईश्वरनाम,** निघ० २।२२, **अर्यः** = **ईश्वरः,** निरु० १३।३।५, **अर्योऽहमस्मि ईश्वरः,** निरु० ५।२।८), **तेषाम् अदाशुषाम्**= उन अदानी, देने में असमर्थ (**दाशृ दाने**), **जनानाम्** = लोगों के, (**जन शब्द स्त्री पुरुष दोनों के लिये प्रयुक्त होता है**), **अन्तः** = अन्दर, **हि** = निश्चय से, **वेदः** = वेद ज्ञान, **ख्यः** = प्रकाशित करता है (**ख्याञ् प्रकथने**), **नः** = हमारे लिये, उस, **वेदः**= वेद ज्ञान को, **आ भर** = प्राप्त कराइये।

इस मन्त्र में बहुत ही सुस्पष्ट शब्दों में निर्देश है कि वेदज्ञान परमात्मा ने जन-जन के लिये उनके अन्दर भर दिया है और मनुष्य उस ज्ञान की ही कामना करता है, यह **'आभर'** शब्द से ज्ञात होता है। इस वेद मन्त्र के रहते कौन दम भर के कह सकता है कि पगगड़धारी जाति ब्राह्मणों के अतिरिक्ति कोई वेद पढ़ नहीं सकता, **इस मन्त्र से स्वतः ही सिद्ध है कि नारियों को भी वेद पढ़ने का अधिकार है।** मजे कि बात यह है कि इस वेद मन्त्र का अर्थ सायण ने नहीं किया, यदि करते तो वे निश्चित वेद का अर्थ वेदज्ञान ही करते, नहीं करते तो वे जाते कहाँ? वेद शब्द को छोड़कर! तब आप कैसे वदतोव्याघात दोष से बचते?

वेद में नारी को ब्रह्मा बताया है **'स्त्री हि ब्रह्मा बभूविथ'।**

ऋ० ८।३३।१९॥

अर्थात् स्त्री निश्चय से ब्रह्मा है, होगी और थी।

ब्रह्मा वेदों के ज्ञाता को कहते हैं, यथा— **ब्रह्मा परिवृढः श्रुततः।**

निरु० १।७॥

अर्थात् वेद ज्ञान से बढ़े हुए को ब्रह्मा कहते हैं।

इस प्रकार जिस ब्रह्मा ने चारों वेद पढ़ लिये, उसके लिये गायत्री मन्त्र का जप निषेध, प्रणव जप का निषेध, क्योंकर सिद्ध हो सकता है? **यतो हि गायत्री मन्त्र- ओ३म् स्तुता मया वरदा वेदमाता०।** अथर्व० १९।७१।१, **ओ३म् भूर्भुवः स्वः०।** यजु० ३६।३ और **'ओ३म् क्रतो स्मर'** यजु० ४०।१५ आदि सभी मन्त्र वेदों में हैं अतः किसी के लाख कोशिश करने पर भी यह सिद्ध नहीं हो सकता कि स्त्रियों को वेद पढ़ने का अधिकार नहीं है, **क्योंकि वह ब्रह्मा है।**

'इमं मन्त्रं पत्नी पठेत्' श्रौ०सू० अर्थात् इस मन्त्र को पत्नी पढ़े, आदि श्रौत वचन भी नारी के वेदाध्ययन के पोषक हैं।

इसी प्रकार स्त्रियों को यज्ञ करने का पूर्ण अधिकार है। तथाहि वेदे—

शुद्धाः पूता योषितो यज्ञिया इमा आपश्चरुमव सर्पन्तु शुभ्राः।

अथर्व० ११।१।१७॥

अर्थात् **शुद्धाः** = निर्मल, **पूताः** = पवित्र, **शुभ्राः** = सुचरित्र, **यज्ञियाः**= यज्ञाधिकारिणी, पूजनीय, **इमाः** = ये, **योषितः** = घर को मिलाने वाली नारियाँ, **आपः** = व्यापक, **चरुम्** = ज्ञान को, **अव सर्पन्तु** = प्राप्त हों।

शुद्धाः पूता योषित यज्ञिया इमा ब्रह्मणां हस्तेषु प्रपृथक्सादयामि।

अथर्व० ६।१२२।५॥

अर्थात् **शुद्धाः** = आभ्यन्तर शुद्ध, **पूताः** = बाह्याचार शुद्ध, पवित्र, **यज्ञियाः** = यज्ञ कर्म करने वाली, **योषितः** = जोड़ने वाली, **इमाः** = इन (स्त्रियों) को, **ब्रह्मणाम्** = ब्रह्म ज्ञानियों के, **हस्तेषु** = हस्त में, विज्ञान बल में, **प्रपृथक्** = विस्तार से **(पृथु विस्तारे)**, **सादयामि** = रखता हूँ॥

यहाँ दोनों मन्त्रों में **'यज्ञियाः'** शब्द आया हुआ है। **'यज्ञर्त्विग्भ्यां घखञौ'** पा० ५।१।७०॥ **'यज्ञम् अर्हति इति यज्ञियः'** इस पाणिनि सूत्र से घ प्रत्यय करके निष्पन्न यज्ञिय शब्द, उनके लिये ही प्रयुक्त होता है, जो यज्ञ कर्म के अधिकारी होते हैं, अर्हता रखते हैं, यज्ञ कर्म में कुशल होते हैं, **एवंविध मन्त्र के यज्ञिय शब्द से भली प्रकार सिद्ध है,** कि **योषित्=नारी को यज्ञ करने का पूर्ण अधिकार प्राप्त है।**

और जो मनुस्मृति का—

नास्ति स्त्रीणां पृथक् यज्ञो न व्रतं नाप्युपोषणम्।
पतिं शुश्रूषते येन तेन स्वर्गे महीयते॥

मनु० ५।१५५॥

यह श्लोक नारियों के यज्ञ न करने में प्रस्तुत किया जाता है, वह प्रस्तोताओं की भूल है। मनु महाराज के इस कथन का यह अभिप्राय है कि गृहस्थ धर्म में प्रवेश होने के पश्चात् पति के जो यज्ञ, व्रत, उपवास आदि कर्म हैं, वे ही नारी के यज्ञ, उपवास, व्रत आदि कर्म हैं, उनको पूर्ण करना ही नारी का धर्म है, उसे पृथक् अनुष्ठान की आवश्यकता नहीं। इस प्रकार पति के व्रत को पालन करती हुई जो नारी है, वह **स्वर्ग में = सुख विशेष में** पूजित होती है। श्लोक का इससे भिन्न कोई तात्पर्य नहीं है, वेद विरुद्ध होने से।

इस तरह स्त्रियों का वेद पढ़ना, प्रणव का जप करना, यज्ञ करना, वेद से सिद्ध होने पर स्पष्ट है कि उनके संस्कार आदि सभी कार्य मन्त्रपूर्वक होंगे, केवल विवाह संस्कार ही नहीं, यथा—

यथैव हि पुत्रजनने प्रजननयज्ञः तन्यते तथैव हि दुहितृजननेऽपि-यैरेव हि मन्त्रैर्येनैव च विधानेन पुत्रगर्भ आधीयते तैरेव मन्त्रैर्तेनैव च विधानेन दुहितृगर्भोऽपि॥

निरु० दुर्ग टी० ३।४।२॥

अर्थात् जैसे पुत्रोत्पत्ति में प्रजनन यज्ञ किया जाता है वैसे ही पुत्री

की उत्पत्ति में होता है। और जिन मन्त्रों से तथा जिस विधि से पुत्रगर्भ किया जाता है वैसे ही उन्हीं मन्त्रों से उसी विधान से पुत्रीगर्भ भी किया जाता है।

यहाँ पर दुर्गाचार्य ने जैसे पुत्र का गर्भाधान यज्ञ मन्त्रों से होता है उसी प्रकार पुत्री का भी गर्भाधान यज्ञ मन्त्रों से होना बताया है। हारीत ने भी—

न शूद्रसमा स्त्रियः तस्माच्छन्दसा स्त्रियः संस्कार्याः।

हारीत स्मृति

अर्थात् स्त्रियाँ शूद्र सम नहीं हैं, अतः मन्त्रों से स्त्रियों के संस्कार करने चाहियें।

इन प्रमाणों से यह सिद्ध हुआ कि विवाह ही नहीं, अपितु सभी संस्कार वेद मन्त्रों से नारियों के करने चाहिये, और जो मनु महाराज का—

वैवाहिको विधिः स्त्रीणां संस्कारो वैदिकः स्मृतः।
पतिसेवा, गुरौ वासो, गृहार्थोऽग्निपरिक्रिया॥

मनु० २।६७॥

यह श्लोक विवाह छोड़कर नारियों के सभी अमन्त्रक संस्कार होते हैं इसके प्रमाण रूप में दिया जाता है, वह ठीक नहीं, क्योंकि इसका जैसा आप सदृश नारी द्वेषी जन अर्थ करते हैं, वैसा नहीं है।

इस श्लोक में ५ कर्म स्त्रियों के बताये गये हैं उनके साथ '**वैदिकः स्मृतः**' इस क्रिया को लगाना है, यथा—

(१) स्त्रियों का विवाह सम्बन्धी संस्कार विधिः = संस्कार कार्य वैदिक है, (२) पति सेवा वेद प्रतिपादित है, (३) उनका गुरुकुल वास = गुरु के पास पढ़ना वेद विहित है, (४) गृहार्थः = गृहस्थाश्रम धर्म वेद सिद्ध है तथा (५) अग्नि परिक्रिया = अग्निहोत्र करना वेद मण्डित है।

नारियों को यज्ञोपवीत धारण करना भी वेदादि शास्त्रानुमोदित है, यथा—

प्रावृतां यज्ञोपवीतिनीम् अभ्युदानयञ्जपेत् सोमोऽददत् गन्धर्वाय इति।

गो०गृह्य०सू० २।१।१८॥

अर्थात् ढकी हुई यज्ञोपवीत वाली कन्या को घर से अग्नि के समक्ष लाते हुए '**सोमोऽददत् गन्धर्वाय**' मन्त्र को जपे।

यहाँ '**यज्ञोपवीतिनीम्**' स्त्रीलिङ्ग में निर्देश है, अतः सिद्ध है, कि नारियें यज्ञोपवीत धारण करती हैं। इसी प्रकार—

ब्रह्मचर्येण कन्या३ युवानं विन्दते पतिम्।

अथर्व० ११।५।१८॥

अर्थात् ब्रह्मचर्य व्रत वाली कन्या युवा पति को प्राप्त करती हैं।

ब्रह्मचर्य का मुख्य चिह्न यज्ञोपवीत है और उस उपनीत को ही वेद का अधिकार है, वह उपनीत चाहे स्त्री हो या पुरुष, जैसा कि मनु महाराज ने कहा है—

कृतोपनयनस्यास्य व्रतादेशनमिष्यते।
ब्रह्मणो ग्रहणं चैव क्रमेण विधिपूर्वकम्॥

मनु० २।१७३॥

अर्थात् उपनयन किये हुये को, व्रत = यज्ञादि कर्म एवं क्रम से विधिपूर्वक वेद पढ़ना चाहियें।

वेद में भी नारियों के यज्ञोपवीत धारण करने का स्पष्ट प्रतिपादन किया है—

भीमा जाया ब्राह्मणस्य उपनीता दुर्धां दधाति परमे व्योमन्॥

ऋ० १०।१०९।४॥

अर्थात् **ब्राह्मणस्य** = ब्रह्मचारी की, (**ब्रह्मणः = परमात्मनः, वेदस्य वा अयमिति ब्राह्मणः, ब्रह्म अधीते वेद वा इति ब्राह्मणः, तस्य**), **भीमा** = बलशाली, **उपनीता** = यज्ञोपवीत पहनी हुई, **जाया** = पत्नी, **दुर्धाम्** = कठिनता से धारण करने योग्य, **परमे व्योमन्** = व्यापक परमात्मा को, वेद को, **दधाति** = धारण कर लेती है।

लेखक ने इस मन्त्र का ऐतिहासिक सन्दर्भ बताते हुये 'बृहस्पति द्वारा अपनी पत्नी जुहू का परित्याग तथा उस पत्नी का पुनः आदित्य, वरुण, चन्द्रमा आदि द्वारा बृहस्पति को उपनीता = प्राप्त कराई गयी,' यह अर्थ किया है, जो नितान्त ही वेद विरुद्ध है। एक ओर तो आप गुरु परम्परा से

प्राप्त अर्थ की दुहाई देते हैं, दूसरी ओर आपने यह ध्यान नहीं दिया कि आपके गुरु सायण क्या कह रहे हैं? सायण ने इस सूक्त के प्रथम मन्त्र की प्रथम पंक्ति में **'जुहूरिति वाङ्नाम, सा ब्रह्मणो जाया च'** लिखा है। **यहाँ सायण ने जुहू का वेदानुकूल अर्थ वाणी किया है जो बहुत-बड़े रहस्य को खोलने वाला है।**

वह रहस्य यह है कि ब्राह्मण अर्थात् वेदाध्ययन करने वाले के पास **जुहू** = वेदवाणी, **उपनीता**= उपनयन संस्कार से युक्त होने पर ही आती है, जो भीमा अर्थात् पाप, अज्ञान से बचाने वाली होती है। उस **ब्रह्म जाया**= परमात्मा से उत्पन्न वेदवाणी को अग्नि, वायु (सोम), आदित्य, अङ्गिरा ऋषियों ने, **ब्राह्मण** = वेद पढ़ने वाले ब्रह्मचारी को प्रदान किया है अर्थात् उन ऋषियों ने वेदों को हम तक पहुँचाया है। वेद के इस रहस्य को न तो आप समझ पाये और न आपके गुरु जी सायण। जुहू का वाक् अर्थ लिखकर भी उल्टे पत्नी के परित्याग आदि की कहानी गढ़ डाली। **वेदज्ञान कैसे प्राप्त हुआ, इसका वर्णन इस सूक्त में है।** इस प्रकार **वेदज्ञान प्राप्ति विषयक इस मन्त्र का यह अर्थ अध्यात्मपरक है।**

और मन्त्र का **आधिभौतिक अर्थ** इस प्रकार होगा—**ब्राह्मणस्य** = ब्रह्मचारी की, **उपनीता** = उपनयन संस्कार से युक्त, **जाया** = पत्नी, **भीमा** = बलशाली, **दुर्धाम्** = दुर्धर्ष, **परमे व्योमन्** = परमात्मा को, परमपद को, **दधाति** = धारण करती है और कराती है।

मन्त्रार्थ में उपनीता शब्द का जो उपनयन संस्कार से युक्त अर्थ किया है, इस अर्थ में अथर्ववेद के **'ब्रह्मचर्येण कन्या युवानं विन्दते पतिम्'** मन्त्र का **'ब्रह्मचर्येण'** पद प्रमाणभूत है, क्योंकि जो भी स्त्री-पुरुष ब्रह्मचर्य धारण करेगा, वह उपनीत अवश्य होगा।

नारियाँ यज्ञोपवीत धारण करती हैं, इसे संस्कृत साहित्य के ग्रन्थ भी उत्तम शब्दों में प्रतिपादित करते हैं। महाश्वेता के वर्णन में बाणभट्ट ने कादम्बरी में लिखा—

ब्रह्मसूत्रेण पवित्रीकृतकायाम्।

कादम्बरी पूर्वभा० पृ० २७३॥

अर्थात् महाश्वेता का शरीर यज्ञोपवीत से पवित्र हो रहा था, ऐसी महाश्वेता को......।

एवंविध उपर्युक्त प्रमाणों से सिद्ध हुआ कि नारियों का उपनयन संस्कार वेदानुमोदित है और अवश्य होना चाहिये।

नारियों के प्रणव जाप में भी न कोई निषेध है, न कोई बाधा। **'ओ३म् क्रतो स्मर'** यजु० ४०।१५, यह यजुर्वेद का मन्त्र है, जिसका सीधा सरल अर्थ है—**हे प्राणी तू ओ३म् का स्मरण कर, क्योंकि क्रतु का अर्थ कर्मशील, बुद्धिमान् एवं अपत्य होता है, क्रतुरिति कर्मनाम,** निघ० २।१, **क्रतुरिति प्रज्ञानाम,** निघ० ३।९, **क्रतुरिति अपत्यनाम - क्रत्वे अपत्याय,** निरु० ११।३।२०)।

वेद का अर्थ वैदिक कोष से ही किया जायेगा, अनार्ष ग्रन्थ अमर कोष से नहीं। वेद के कोष निघण्टु और निरुक्त हैं। इन वैदिक कोषों के आधार पर प्राणी ही कर्म वाला, प्रज्ञा वाला और अपत्य वाला होगा। इस प्रकार क्रतु का अर्थ प्राणी होने से, व्यक्ति विशेष के द्वारा **'ओ३म् = प्रणव'** जपने योग्य है यह सिद्ध नहीं हो सकता है क्योंकि व्यक्ति विशेष के द्वारा प्रणव के स्मरण की वेद में चर्चा नहीं है, उसे स्त्री-पुरुष सभी स्मरण करेंगे।

आपने जो वेद के शब्द क्रतु के अर्थ के लिये **'यज्ञः सवोऽध्वरो यागः सप्ततन्तुर्मखः क्रतुः'** अमर० २।७।१३ अमर कोष का वाक्य उद्धृत किया है, वह वेदविदों के लिये हास्यास्पद है, और जो **'ओ३म् क्रतो स्मर'** का अर्थ किया—'हे यज्ञाग्नि रूप ब्रह्म मुझे याद करो क्योंकि जीवनभर मैंने तुम्हारी परिचर्या की है, और बताया कि यह मृत्युकाल में यष्टा योगी की ईश्वर से प्रार्थना है' यह सब आपकी बकवास है। स्मरण रहे? **'ओ३म् क्रतो स्मर'** मन्त्र के अर्थ के लिये अमर कोष, उवट, महीधर और कात्यायन से अधिक प्रमाण यास्क महर्षि होंगे, जो निघण्टु, निरुक्त के रचयिता हैं, न कि उवट इत्यादि। आपके अनुसार यदि मरते समय अपने किये गये कर्मों की याद ईश्वर को दिलानी पड़ेगी, तो ईश्वर सर्वज्ञ है, यह उसका विशेषण कहाँ रह जायेगा? क्या उसकी सर्वज्ञता का विघात नहीं होगा?

वेद मन्त्रानुसार **'ओ३मिति एकाक्षरं ब्रह्म व्याहरन्'** गी० ८।१३ का

तात्पर्यार्थ भी '**सभी स्त्री पुरुष ओ३म् बोलते हुये, ओ३म् स्मरण करते हुये**' यह होगा, न कि योगी विशिष्ट स्मरण करते हुये यह अर्थ। इस तरह स्त्रियों को भी '**ओ३म् = प्रणव**' जाप का पूर्ण अधिकार है।

आर्यावर्त्त के इतिहास में बहुत से उदारहण हैं जिनसे सिद्ध है कि नारियाँ यज्ञ करती थीं। उन उदाहरणों में माता कौशल्या का नाम भी उत्कृष्ट स्थान पर है, वाल्मीकि रामायण में कहा है—

सा क्षौमवसना हृष्टा नित्यं व्रतपरायणा।
अग्निं जुहोति स्म तदा मन्त्रवत् कृतमङ्गला॥

अयो० २।२०।१५॥

अर्थात् वह कौशल्या माता प्रसन्न होती हुई, व्रतपरायणा क्षुमा = अलसी के तन्तुओं से बने रेशमी वस्त्र धारण कर, मङ्गलाचार गाती हुई, मन्त्रपूर्वक अग्निहोत्र कर रही थीं।

यहाँ बटुक शास्त्री ने जो '**जुहोति**' का अर्थ '**गुरुपरम्परा**' किया है वह विद्वत् समाज में हास्यास्पद तथा वैयाकरणों की अवमानना है।

इस श्लोक में आये '**जुहोति**' शब्द का अर्थ '**यज्ञ कर रही थीं**' यह है। लेकिन स्त्री शिक्षा द्वेषी, स्त्री शिक्षा विरोधी जन गुरुपरम्परा अर्थ मानकर '**जुहोति**' का अर्थ '**ब्राह्मणों द्वारा यज्ञ करवा रही थीं**' ऐसा करते-कराते हैं जबकि श्लोक में कहीं भी ब्राह्मण शब्द नहीं है। अपने इस अर्थ की पुष्टि में—

प्रविश्य तु तदारामो मातुरन्तः पुरं शुभम्।
ददर्श मातरं तत्र हावयन्तीं हुताशनम्॥

अयो० २।२०।१६॥

इस श्लोक के '**हावयन्तीम्**' पद को उद्धृत करते हैं और इस '**हावयन्तीम्**' शब्द का '**यज्ञ करवा रही थीं**' यह अर्थ है, यह डिण्डिम घोष करते हैं। अपने घोष के प्रमाण हेतु रामायण शिरोमणि टीका का— '**मातरं ददर्श एतदनुरोधेन पूर्वत्र जुहोति इत्यस्य हावयन्ती इत्यर्थः**' इतने अंश को प्रस्तुत करते हैं और इसके आगे की पंक्ति '**अत्रैव स्वार्थे णिच् वा**' इस वाक्यांश को छोड़ देते हैं, अपनी स्वार्थ सिद्धि के लिये।

भला बताइये! क्या हेतु है कि १६वें श्लोक में आये **'हावयन्तीम्'** पदानुसार १५वें श्लोक के **'जुहोति'** पद का अर्थ **'यज्ञ करवा रही थीं'** करें और **'जुहोति'** पदानुसार **'हावयन्तीम्'** का अर्थ **'यज्ञ करती हुई को'** न करें? स्पष्ट ही **'विनिगमका विरहात्'** कोई हेतु नहीं है।

'हावयन्तीम्' पद णिजन्त शतृप्रत्यय का रूप है। यहाँ टीकाकार ने **'अत्र स्वार्थे णिज्वा'** स्वार्थ में णिच् भी हो सकता है यह लिखकर स्पष्ट कर दिया कि **'हावयन्तीम्'** का अर्थ **'यज्ञ करती हुई को'** को भी किया जा सकता है और **'जुहोति'** का तो अर्थ **'यज्ञ कर रही थी,'** वह सिद्ध ही है, बदलेगा नहीं। भ्रम में डालने के लिये जो टीका का अंश उद्धृत किया है, वहाँ टीकाकार का आग्रह नहीं है कि हेतुमद्भाव में ही णिच् होवे। अतः स्वार्थ में भी णिच् होगा।

स्पष्ट बात में वितण्डा करना आप सबका धर्म है, सो करते हैं। नयी-नयी टीकायें बनाकर भ्रम फैलाते हैं और नारियों को यज्ञ जैसे पवित्र कर्म से दूर रखते हैं। जिन नारियों से आप उत्पन्न हुये, जिनकी कुक्षि में पले, उन नारियों से ऐसा विद्वेष? धिक्!!!

आपकी बुद्धिमत्ता का कहाँ तक बखान किया जाये, जिन्हें मन्त्र क्या है? श्लोक क्या है? यही भेद ज्ञात न हो, उनसे क्या सिर मारें? क्या रामायण के श्लोक मन्त्र हैं?

जो जन वेद विषयक सामान्य ज्ञान भी नहीं रखते, वे कैसे यह कहने का साहस रखते हैं कि नारियों को वेद पढ़ने का अधिकार नहीं है? अज्ञानता की यह कैसी विडम्बना है[1]!!!

---

१. **'सिद्धान्त'** पत्रिका के मनुवादविचाराङ्क जनवरी-फरवरी २००२ में पृ० ८१ पर प्रकाशित।

पुराण संज्ञा किसकी ?

'पुराण' शब्द से आवाल वृद्ध सभी परिचित हैं और वह पुराण शब्द अष्टादश पुराणों एवं उपपुराणों इन विशिष्ट ग्रन्थों का ही वाचक है इस विचारधारा से भी सभी अवगत हैं। पर वैदिक वाङ्मय के अनुसन्धान से ज्ञात होता है कि पुराण शब्द किसी ग्रन्थ विशेष का वाचक नहीं, अपितु 'विशेषणरूप' अर्थ का कथन करने वाला है।

वेदों में आया "पुराण" शब्द मुख्यतः सत्य सनातन परमात्मा का वाचक है "पुरा नवं भवतीति पुराणम्"।

निरु० ३।४।१८।।

अर्थात् जो प्रथमतः नया हो वह पुराण। सो परमात्मा प्रत्येक सृष्टि में एक जैसा रहता है अतः उसकी पुराण संज्ञा होगी ही।

और इसी प्रकार "तादर्थ्यात् ताच्छब्द्यं भवति"

महाभाष्य० १।१।४६।।

इस महाभाष्य के वचनानुसार उस परमात्मा की सत्ता, सामर्थ्य सृष्टि रचना आदि के बोधक ब्राह्मण ग्रन्थ भी पुराण कहलाये। ये ब्रह्मादि के बनाये ऐतरेयादि ब्राह्मण ग्रन्थ ही पुराण हैं, भागवत आदि नहीं, इसकी पुष्टि महर्षि दयानन्द ने सत्यार्थप्रकाश के तृतीय एवम् एकादश समुल्लास में-

ब्राह्मणानीतिहासान् पुराणानि कल्पान् गाथा नाराशंसीरिति।

तु०आश्व०गृ०सू० ३।३।१।।

तै०आ० २।६।।

सत्यार्थ० तृ० ६६।।

एका० ३१२।।

इन आश्वलायन गृह्यसूत्र आदि के वचन से की है। महर्षि ने इस वचन का अर्थ इस प्रकार किया है-

ऐतरेय, शतपथ, साम और गोपथ ब्राह्मण ग्रन्थों के ही इतिहास, पुराण, कल्प, गाथा, और नाराशंसीय ये पाँच नाम हैं।

इतिहास = जैसे जनक और याज्ञवल्क्य का संवाद।

पुराण = जगत् उत्पत्ति आदि का वर्णन।

कल्प = वेद शब्दों के सामर्थ्य का वर्णन, अर्थ निरूपण करना।

गाथा = किसी का दृष्टान्त दार्ष्टान्तरूप कथा प्रसङ्ग कहना।

नाराशंसीय = मनुष्यों के प्रशंसनीय वा अप्रशंसनीय कर्मों का कथन करना।

सत्यार्थ०एका०पृ० ३१२।।

इस प्रकार परमात्मा और उसके ज्ञान आदि कर्मों का व्याख्यान करने वाले **ऐतरेय आदि ब्राह्मण ग्रन्थों की संज्ञा पुराण हुई।** महर्षि ने स्वमन्तव्या-मन्तव्यप्रकाश, आर्योद्देश्यरत्नमाला एवं ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका के **'वेद संज्ञा विचार'** प्रकरण में भी पुराण, कल्प, इतिहास, गाथा एवं नाराशंसी अभिधान ब्राह्मण ग्रन्थों के ही बताये हैं। महर्षि ने ब्राह्मण ग्रन्थों की पुराण संज्ञा वैदिक वाङ्मय के आधार पर ही बतलाई है, जो उपर्युक्त विवेचन से सुस्पष्ट है।

बड़ा खेद है कि महाभारत काल के पश्चात् जब मेरे देश का पतन हो गया एवं वेद-वेदाङ्गों का अध्ययन-अध्यापन प्रायः लुप्त हो गया, उस समय कुछ छली कपटी लोगों ने १८ पुराणों एवम् उपपुराणों की रचना कर डाली, जिन्हें हम वस्तुतः पुराण मान बैठे। धर्म के नाम पर उन्हें ही बाँचने लगे, जिनमें भगवानों की मारपीट, अश्लीलता का कीचड़, व्रत नियमादि का भय, अन्धविश्वासों की आँधी तथा हिरण्याक्ष द्वारा पृथिवी को चटाई के समान लपेटकर सिराहने रख सो जाना, खम्भे से नृसिंह का उत्पन्न होना इत्यादि सृष्टि विरुद्ध असम्भव कपोल कल्पित गप्पें भरी पड़ी हैं।

सायणाचार्य ने भी ब्राह्मण ग्रन्थों को पुराण माना है-

"इदं वा अग्रे नैव किञ्चनासीन्नद्यौरासीत् इत्यादिकं जगतः प्रागव-स्थानमुपक्रम्य सर्गप्रतिपादिकं वाक्यजातं पुराणम्"

ऐतरेय ब्रा० सायणभूमिका, पृ० ४।।

अर्थात् पहले कुछ न था, द्यौ भी न था, इत्यादि जगत् की पहले सत्ता

बतलाकर ततः सृष्टि का प्रतिपादन करने वाले वाक्य ही पुराण कहाते हैं।

सायणाचार्य की इन पंक्तियों से इतना तो सुस्पष्ट हो गया कि ब्राह्मण ग्रन्थों के उन वाक्य समूहों की पुराण संज्ञा है, जिनमें सृष्टि रचना का प्रतिपादन है। पर यहाँ यह शंका रहती है यदि पुराणवाक्य ब्राह्मण शब्द से गृहीत हो गये, पुनः उनकी पुराण संज्ञा क्यों है ? इसका उत्तर भी सायणाचार्य देते हुए लिखते हैं-

"ननु ब्रह्मयज्ञप्रकरणे मन्त्रब्राह्मणव्यतिरिक्ता इतिहासादयो भागा आम्नायन्ते "यत् ब्राह्मणानीतिहासान् पुराणानि कल्पान् गाथा नाराशंसीरिति" तै० आ० २। ६, **मैवम् विप्रपरिव्राजकन्यायेन** ब्राह्मणाद्यवान्तरभेदानामेवेतिहासादीनां पृथगभिधानात्"।

ऐतरेय ब्रा० सायण भूमिका पृ० ४।।

अर्थात् ब्रह्मयज्ञ प्रकरण में मन्त्र तथा ब्राह्मण से अतिरिक्त इतिहासादि भाग आम्नात हैं, जो ब्राह्मण, इतिहास, पुराण, कल्प, गाथा एवं नाराशंसी हैं। ऐसा मत विचारो। विप्रपरिव्राजक न्याय से ब्राह्मणादि के अवान्तर भेदों के ही इतिहास, पुराण आदि पृथक् रूप से अभिधान हैं।

इस प्रकार ज्ञात हो गया कि **'पुराण'** शब्द परमात्मा का वाचक है तथा उसके रूप को, कार्यों को बखान करने वाले **ब्राह्मण ग्रन्थों का ही नाम पुराण है,** भागवतादि का नहीं।

हमारा बड़ा सौभाग्य है कि महर्षि ने भ्रमजाल फैलाने वाले पुराणों से मुक्ति दिलाकर तथा वेद विख्यापक ब्राह्मण ग्रन्थ ही पुराण हैं यह बताकर पुनः हमें वेदों से जोड़ा है। यदि उन पुराणों की मनघड़न्त गप्पों का बखान किया जाए तो संभव है पुस्तकों के ढेर लग जायें।

मूर्त्तिपूजा का आरम्भ ऐसे हुआ

सम्पूर्ण सृष्टि का कर्त्ता, धर्त्ता, संहर्त्ता अशरीरी एकेश्वर परमात्मा ही है, जो कण-कण में व्याप्त है। परमात्मा के इस स्वरूप को वेदों में इस प्रकार बताया गया है-

सऽ ओतः प्रोतश्च विभूः प्रजासु॥

यजु० ३२।८॥

अर्थात् वह परमात्मा समस्त सृष्टियों एवं प्राणियों में व्यापक होकर ओत-प्रोत है।

भूतस्य जातः पतिरेक आसीत्॥

ऋ० १०।१२१।१॥

अर्थात् उत्पन्न हुये सम्पूर्ण जगत् का प्रसिद्ध स्वामी एक ही था, है, एवं होगा।

सपर्यगाच्छुक्रमकाय०। यजु० ४०।८, मन्त्र में परमात्मा को नस-नाड़ी रहित एक अलौकिक परम पुरुष सिद्ध किया है।

इसी निराकार परमपुरुष की उपासना ऋषि-महर्षि सृष्टि के आदिकाल से करते आये हैं, क्योंकि सर्वनियन्ता, अशरीरी, निराकार प्रभु की उपासना ही उपासक को उसके लक्ष्य तक पहुँचा सकती है, इस तथ्य को हमारे ऋषि-मुनि भली प्रकार जानते थे। जैसा कि योगदर्शन में कहा है-

स तु दीर्घकालनैरन्तर्यसत्कारासेवितो दृढभूमिः॥

योग० १।१४॥

अर्थात् वह परमात्मा दीर्घकाल तक निरन्तर दृढ़ता से ध्यातव्य है, तभी उस परमात्मा का निरन्तर उपासक अपने चरम लक्ष्य को प्राप्त कर सकता है।

योगदर्शन के इस यथार्थ कथन को लक्ष्य में रखकर आर्यावर्त्तवासी ईश्वराज्ञानुकूल वरतते हुये पुरुषार्थ चतुष्टय को सिद्ध कर तीनों प्रकार के

सुखों से सुशोभित थे। वेदों का पठन-पाठन सर्वत्र व्याप्त था, सभी का उद्देश्य परा एवं अपरा विद्या को सिद्ध करते हुये मात्र सच्चिदानन्द स्वरूप परब्रह्म को प्राप्त करना था। निराकार परमेश्वर की उपासना के कारण ही मेरा देश सदा से विश्वगुरु पद पर प्रतिष्ठित रहा है।

लेकिन महाभारत युद्ध के पश्चात् देश में अज्ञानतावश यज्ञों में पशुवलि, नरबलि, छुआछूत, मृतकश्राद्धादि घृणित कार्यों की आढ़ सी आ गयी। ऐसे समय में महाभयंकर वेदादि शास्त्रों के निन्दक बौद्ध, जैन, चारवाक एवं आभाणक मतों का प्रादुर्भाव हुआ जिन्होंने भारतवासियों के धार्मिक ग्रन्थों का विल्कुल विध्वंस कर दिया। निराकार परमेश्वर की उपासना जाती रही, वेदाध्ययन लुप्त हो गया, **भगवत् प्रदत्त वेदों को धूर्त्त, भाण्ड, निशाचरों की कृति बताया।** पठन-पाठन, यज्ञोपवीतादि और व्रह्मचर्यादि नियमों का नाश किया, सर्वत्र अनात्मवाद फैल गया। जैनी वेदों के वास्तविक अर्थों को न समझ सके। **अपनी मूर्खता से मूर्त्ति पूजा की स्थापना कर ऋषभदेव से लेकर महावीर पर्यन्त अपने तीर्थङ्करों की बड़ी-बड़ी मूर्त्तियाँ बनाकर पूजा करने लगे। तभी से मूर्त्तिपूजा की जड़ जम गयी। जैनादि मतों का प्रादुर्भाव ही मूर्त्तिपूजा का आदि स्रोत है। इस मूर्त्तिपूजा को प्रचलित हुये लगभग ३००० (तीन हजार) वर्ष हुये। जितनी भी मूर्त्तियाँ उपलब्ध हैं वे तीन हजार वर्षों से पूर्व की नहीं हैं। पाषाण पूजा हमारे आदि ऋषि महर्षियों की देन नहीं है बल्कि मध्यकालीन अविद्यान्धकार की देन है।**

इस पाषाण पूजा का रोग नासूर स्फोटक सदृश विश्वव्यापी बन गया। वेदोक्त निराकार परमात्मा को उपासना की जगह पाषाणों पर अंकित कर पूजा जाने लगा। सभी महापुरुष पाषाण रूप में पूजे जाने लगे। जिसका परिणाम यह हुआ कि सम्पूर्ण धार्मिकता जो आन्तरिक थी बाह्य बन गयी, आर्य जाति सैकड़ों सम्प्रदायों में बँट गयी, संयम शुद्धता चिन की एकाग्रता आदि के स्थान को भ्रष्टाचार ने ले लिया, मनोबल, वीर्य, पराक्रम, उत्साह

एवं उदारता समाप्त हो गयी, प्रत्येक प्रकार की दुर्बलतायें समा गयीं। फलतः वैचारिक नपुंसकता ने मेरे देश को जकड़ लिया, अपनी सफलता-असफलता का भार इन पाषाण-मूर्त्तियों पर छोड़ दिया गया। पाषाण देवों को ही अपना रक्षक मान लिया। इस मूर्त्तिपूजा के उद्भव एवं दुष्परिणामों को राष्ट्रनेता **"लाला लाजपत राय"** द्वारा लिखित **"महर्षि स्वामी दयानन्द सरस्वती और उनका काम"** नामक पुस्तिका की भूमिका में देखा जा सकता है।

वे लिखते हैं, इस नपुंसकता के समय में सर्वप्रथम प्रसिद्ध आक्रमण मुहम्मद बिन कासिम ने देवल के बन्दर पर किया। वह संघर्ष कई दिनों तक चलता रहा, अन्त में मुहम्मद को उनके परास्त होने की कुञ्जी प्राप्त हो गयी, कि ये सभी वीर झण्डे को नीचे झुका देने पर आत्मबल खो बैठेंगे। मुहम्मद ने वैसा ही किया, झण्डा नीचे झुका दिया गया। भारत के वीरों का झुके झण्डों को देख मनोबल टूट गया एवं मुँह की खानी पड़ी। तत्पश्चात् सदा के लिये, मुगलों के लिये भारत के द्वार खुल गये। इस मूर्त्तिपूजा के अनेक उदाहरण हैं जिन्होंने देश को अवनति के गर्त्त में गिराया है। नालन्दा विश्वविद्यालय, सोमनाथ का मन्दिर एवं वाराणसीस्थ विश्वनाथ मन्दिर आदि की पराजय सर्वविदित ही है।

इस पाषाण पूजा को करते-करते हमारा मस्तिष्क पाषाण सदृश ही हो गया, सृष्टि की संचरना के वास्तविक स्वरूप को नहीं जान पाये, हाँ ! हम आदि पाषाणकाल, पूर्व पाषाणकाल, उत्तर पाषाणकाल आदि की कल्पना अवश्य कर सके, जिसने अब हमें रेतकाल में लाकर खड़ा कर दिया है। इस रेतकाल में अपने ऋषि-महर्षियों के, महापुरुषों के आदर्शों को चाह कर भी नहीं देख पा रहे हैं, खोज पा रहे हैं, वे उच्चादर्श रेत के ढह जाने से विलीन हो जाते हैं। पाषाण पूजा के रोग से ग्रसित जनों को न रोग का आदि स्रोत पता है, न रोग के भयङ्कर परिणाम का, न ही उसके निदान की चिन्ता है। इस रोग से पीड़ित जनों को अपना इतिहास विस्मृत प्राय हो चुका है।

देव कौन ? एवं पञ्चायतन पूजा किनकी ?

शिक्षा और शिष्टाचार ऐसे मानवीय गुण हैं जो मनुष्य में निहित देवतत्व की पहचान हैं। जिनके अभाव में मानव असुर, राक्षस, पिशाच आदि की कोटि में आ जाता है एवं इन दोनों से युक्त होने पर देव एवं आर्य के अभिधान को प्राप्त होता है। इसकी परिभाषा **महर्षि दयानन्द अपने स्वमन्तव्यामन्तव्य** प्रकाश के २० एवं २८ क्रमांक में इन शब्दों में करते हैं कि **मैं विद्वानों को देव, अविद्वानों को असुर, पापियों को राक्षस, अनाचारियों को पिशाच एवं दुष्ट मनुष्यों को दस्यु मानता हूँ।** ऋषिवर की दृष्टि में वे ही जन देव हैं जो राग द्वेषादि को छोड़ वेद-वेदाङ्गादि आर्षग्रन्थों का पठन-पाठन करते हैं एवं सत्यासत्य को जान धर्माचरण पूर्वक देश को, समाज को आचार-विचार, सुशीलता, सभ्यता का उपदेश देते हैं तथा पापाचरण से बचाते हैं।

शतपथ ब्राह्मण में भी कहा है-

''विद्वांसो हि देवा:।'' शत० ब्रा० ३।७।३।१०।।

अर्थात् विद्वान् ही देव हैं। इससे पता यह चला कि अविद्वत्ता ही पापाचार, अनाचार, कुविचार की मूल है। जो हमारे देवत्व को कुचल कर असुर, पिशाच, राक्षस एवं दस्यु की उपाधि का भागीदार बनाती है। जिनका त्याग प्रत्येक मननशील प्राणी को करना ही चाहिए।

उपर्युक्त देवत्व के विचारों को जानकर सभी विचार कर रहे होंगे कि हम देव बनने के लिए कहाँ जायें ? क्या करें ? किस मठ की शरण लें ? तो इसके लिए दूर जाने की आवश्यकता नहीं। **जो हमें देवतुल्य बनाते हैं वे हमारे विद्वान् देव माता-पिता, आचार्य, अतिथि और स्त्री-पुरुष आपस में पति-पत्नी सम्बन्ध रखने वाले ही देव हैं।** जो हमारी अविद्या को छुड़ाकर धर्माचरण सिखाते हैं **उन्हें ही महर्षि ने पञ्चदेव की संज्ञा दी है।** न कि पाषाण की बनी, शिव, विष्णु, अम्बिका, गणेश एवं सूर्य की मूर्तियाँ देव हैं।

इन माता-पिता, आचार्य आदि चेतन मूर्तिमान् देवों की सेवा, शुश्रूषा तथा पति-पत्नी का आपस में मान सत्कार करना ही पञ्चायतन पूजा है।

जिसका प्रतिफल स्वामी जी महाराज ने इस प्रकार बताया है-

"ये पाँच मूर्तिमान् देव जिनके संग से मनुष्यदेह की उत्पत्ति, पालन, सत्यशिक्षा, विद्या और सत्योपदेश की प्राप्ति होती है। ये ही परमेश्वर को प्राप्त होने की सीढ़ियाँ है।"

सत्यार्थ० एका० पृ०२९९।।

लेकिन आज मेरा देश पाषाण देवों की पूजार्चना में ही व्यस्त है अपने विद्वान् चेतन पञ्चदेवों की पूजा भूल चुका है। इनके सामीप्य को अपने उन्मुक्त आहार-विहार में बाधक समझता है। परिणामतः ग्राम, नगर, सर्वत्र गली-गली में अनाचार, पापाचार ही स्वच्छन्द विचरण कर रहा है इस स्वच्छन्द कदाचार को देख चेतन देवों का हृदय चीत्कार कर रहा है, किन्तु पाषाण देव तो योगमुद्रा में ही लीन हैं।

अभी हाल में शिवरात्रि बीती है और अभी परसों रामनवमी आने वाली है ऐसे अनेकों अवसर हैं जिन पर मेरे देश के करोड़ों भोले-भाले लोग अपने भूखे प्यासे कराह रहे माता-पितादि को छोड़कर मूर्तियों को तृप्त करने में लगे रहते हैं। यद्यपि वे भोले जन मेले ठेले की भीड़ में अपने अङ्गों से भी हाथ धो बैठते हैं तथापि उनको भगवान् के नाम पर सब सहनकर सुख-शान्त्यर्थ प्रसाद स्वरूप चरणामृत की ही अभिलाषा है चेतन देवों के आशीषों की नहीं। यह कैसी विडम्वना है ?

दया और आनन्द के सागर महर्षि की दृष्टि में जो जीते जागते माता-पिता, आचार्य एवं अतिथि हैं उनकी पूजा तथा पति-पत्नी का परस्पर का सत्कार ही वास्तविक देव पूजा है। अन्त में वेद के शब्दों में "**देवस्य हेडो अवयासिसीष्ठाः**" ऋ० ४।१।४ अर्थात् इन देवों के प्रति जो **हेड** है उपेक्षा है उसे हम दूर करें तभी हम विद्वान् धर्मात्मा बनकर देव पथ पर प्रतिष्ठित हो सकते हैं और देश से पापाचार के कोढ़ को धो सकते हैं, सुख, शान्ति एवं कल्याण की वर्षा कर सकते हैं।

वासन्ती नवसस्येष्टि

(होली, होलिका)

फाल्गुन मास की पूर्णिमा को सम्पूर्ण राष्ट्र में "**होली**" का पर्व बड़े धूमधाम से मनाया जाता है। इस पर्व का वैदिक नाम "**वासन्ती नवसस्येष्टि**" है इस नाम की पृष्ठभूमि इस प्रकार है—हमारा भारत देश कृषि प्रधान देश है। छः ऋतुओं में प्रधान रूप से वर्ष की दो ऋतुयें धन-धान्य की सम्पदा प्रदान कर देशवासियों को निहाल कर देती हैं। सबके प्राणप्रदाता, अङ्गरक्षक उस नवीन अन्न को अपने उपयोग में कब से लें, इसके लिये हमारे ऋषि मुनियों ने विशिष्ट तिथियों को निश्चित किया हुआ है यथा—

शरद् ऋतु में प्राप्त होने वाले अन्न के लिये "**कार्तिक मास की अमावास्या**" **अर्थात् दीपमालिका पर्व** और वसन्त ऋतु में प्राप्त होने वाले अन्न के लिये "**फाल्गुन मास की पूर्णिमा**" को निश्चित किया है। हमारी संस्कृति दूसरे को देने के पश्चात् स्वयं[१] ग्रहण करना चाहिये इसकी पोषिका है, अतः सर्वप्रथम स्वर्ण बिखेरती हुई गेहूँ, जौ आदि की बालियों की देवों के देव अग्निदेव को आहुति दी जाती है। अग्निदेव सभी देवों के मुख हैं और वे हमारे इष्ट-अनिष्ट, मित्र-अमित्र सभी को देने में समर्थ हैं। इनके द्वारा बाँटे गये बायने को कोई अस्वीकार नहीं कर सकता। इस तथ्य को ध्यान में रखते हुये अग्नि में नये अन्न की आहुति दी जाती है, तदनन्तर यज्ञाग्नि में भुने हुये अन्न का यज्ञशेष ग्रहण किया जाता है।

यदि हम नये अन्न को अग्नि में न डालकर अर्थात् यज्ञ न कर ऐसे ही ग्रहण कर लेते हैं, वह हमारे लिये लाभप्रद नहीं होता, जैसा कि गोपथ ब्राह्मण में कहा है—

---

१. वेद में कहा है—'केवलाघो भवति केवलादी,' ऋ. १०।११७।६॥ अर्थात् अकेले खाने वाला केवल पाप को खाने वाला होता है।

यत् अकृत्वा आग्रयणं नवस्य अश्नीयात्,
देवानां भागं प्रतिक्लृप्तम् अद्यात्॥

गो०ब्रा०२।१।१७॥

अर्थात् जो **अग्रयण** = नये अन्न का यज्ञ न करके उसे खा लेता है, वह देवताओं के प्रत्यक्ष उपस्थित भाग को खा लेने के सदृश है।

इसलिये इस पवित्र पर्व पर हमारे पूर्वज आनन्दमग्न होकर प्रभु का गुणगान करते रहे हैं क्योंकि परमात्मा की कृपा से ही घनघोर परिश्रम के पश्चात् अन्न प्राप्त होता है और नये अन्न से बृहद् यज्ञ का आयोजन कर आहुति प्रदान करते रहे हैं इसीलिये फाल्गुन मास की पूर्णिमा का नाम **'वासन्ती नवसस्येष्टि'** है।

इस पर्व का दूसरा नाम **'होली' 'होलकोत्सव'** है क्योंकि संस्कृत में **''तृणाग्निभृष्टार्धपक्वशमीधान्यं होलकः''**, शब्दकल्पद्रुम अर्थात् अग्नि में भुना हुआ अर्धपक्व अन्न होलक कहा जाता है जिसे हिन्दी में होला कहते हैं, तदनुसार इस वासन्ती नवसस्येष्टि का अपर नाम **'होलकोत्सव'** है।

होलिकापर्व को **'वसन्तोत्सव'** तथा **'मदनोत्सव'** भी कहा जाता है क्योंकि इस मास में वसन्तराज अपने यौवन पर होता है, प्रकृति सुरभित पुष्पों से विहसने लगती है, पक्षीगण उत्फुल्ल चहचहाते हैं, कलकण्ठा कोकिला की कूक नभमण्डल को माधुर्य से भर देती है, आम्रमञ्जरियों की सुरम्य सुगन्धि भ्रमरों को मदमस्त बना देती है, ऐसा प्रतीत होता है मानो हमारी कामनाओं को पूर्ण करने वाले परमात्मदेव आनन्द बरसा रहे हैं। आबालवृद्ध सभी प्रकृति के इस रंग में रंग जाते हैं, खुशियों के उल्लास में परस्पर चन्दन, सुगन्धित, इत्र आदि छिड़क कर पुष्पों से बने रंग, चूर्ण का तिलक लगाकर आनन्द को बाँटते हैं, इन्हीं कारणों से **होलकोत्सव को वसन्त ऋतु में मनाये जाने के कारण वसन्तोत्सव** और **प्रसन्नता प्रदान करने वाला पर्व होने से मदनोत्सव कहा जाता है।** कवियों ने मदनोत्सव का जो रूप चित्रित किया है और अश्लील भावनायें उड़ेली हैं, वे परमात्मा से दूर करने वाली हैं अतः वे कल्पनायें उचित नहीं हैं।

इसी प्रकार वर्त्तमान समय में नुक्कड़ों पर या नगरग्राम के विस्तृत स्थलों में इतस्ततः से बटोरे, काटे गये खटिया-मचिया, वृक्ष आदि काष्ठों और उपलों के ढेरों से होली जलाने की सामूहिक प्रथा है, वह नवसस्य की इष्टि का = यज्ञ का ही विकृत रूप है। और जो होली के दिन गाली-गलौज अश्लील शब्दों का उच्चारण करते हुये निम्नकोटि के रंगों से अमर्यादित ढंग से एक दूसरे के सुकोमल मानवमुखों को इत्रादि के स्थान पर सीसा युक्त रंगों से वानरमुखाकृति बनाया जाता है एवं कीचड़ उछाला जाता है, वह पाशविक वृत्ति का ही तो परिचायक है, मानवीय वृत्ति का नहीं, जो सर्वथा हेय है। ऐसे कार्य पाशविक तो हैं ही, राष्ट्रीय अपव्यय के भी कारण हैं, अतएव इस होलकोत्सव के अवसर पर परस्पर चन्दन, इत्र छिड़ककर और गुलाब आदि पुष्पों से बने सौम्य रंगों का तिलक लगाकर आनन्द उठाना चाहिये। यह हमारा राष्ट्रीय पर्व है, पर उपकार एवं परसेवा की भावना से भरा हुआ है।

इस पर्व पर किये जाने वाले बीभत्स पाशविक "**बुरा न मानो होली है**" के आचरणों को देखकर चिन्तकों ने इस पर्व को शूद्रों का पर्व घोषित कर दिया, जबकि इस पर्व से ऐसा कोई तथ्य नहीं स्पष्ट होता कि यह शूद्रों का पर्व है। यह पर्व तो जनजीवन से जुड़ा हुआ पर्व है, अन्न की आवश्यकता चारों वर्णों एवं चारों आश्रमों में रहने वाले प्रत्येक मानव को है, इसीलिये तो इस पर्व का **वैदिक एवं यथार्थ नाम 'वासन्ती नवसस्येष्टि' है।**

होलिकोत्सव के साथ अविज्ञात समय से पुराणोक्त एक दन्तकथा जुड़ी हुई है कि फाल्गुन की पूर्णिमा के दिन अत्याचारी राक्षसराज हिरण्यकश्यप ने अपने परमात्मभक्त पुत्र प्रह्लाद को अपनी मायाविनी होलिका नाम्नी भगिनी की गोद में बिठाकर जलती चिता में बिठा दिया था, किन्तु परमात्मा की अनुकम्पा से प्रह्लाद का तो कोई बालबाँका न हुआ, राक्षसी होलिका भस्मसात् हो गयी, तभी से यह होलिकोत्सव प्रचलित हुआ है ऐसा जाना जाता है।

यहाँ ज्ञात हो, कि पुराणोक्त कथा में आलंकारिक वर्णन है, जिसका होलिकोत्सव से दूर का भी सम्बन्ध नहीं है, क्योंकि अग्नि का गुण उष्णता[१] है, दाहकता है, उसमें ईश्वरभक्त या अभक्त किसी को भी रखा जायेगा उसे वह अवश्य जलायेगी। **इस दन्तकथा में तो अध्यात्म-भक्ति की प्रेरणा दी गयी है,** तथाहि—

हिरण्यकश्यप	=	भोगासक्त शुभाशुभ कर्मों से युक्त मनुष्य।
होलिका	=	मनुष्य की तृष्णा, मानसिक वृत्ति।
चिता	=	परमात्मा का ध्यान।
प्रह्लाद	=	भोगासक्त की आत्मा।
नृसिंह	=	परमात्मा।

तात्पर्य हुआ हिरण्यकश्यप ऐश्वर्यसम्पन्न अर्थात् माया के स्वामी का प्रतिनिधि है। होलिका माया में फँसे व्यक्ति की तृष्णा है, उसकी वह मनोवृत्ति है, जिससे सब कुछ समेटने की इच्छा रखता है। चिता परमात्मा का ध्यान है, जो उसकी तृष्णा को कालस्वरूप बन अवसान करता है। तृष्णा के नष्ट होने पर तृष्णासक्त की आत्मा को जो आह्लाद होता है वही प्रह्लाद है। आत्मा पुत्ररूप होता है, जैसा कि जैमिनि गृह्यसूत्र में कहा है—

आत्मा वै पुत्रनामासि।

जै०गृ० १।८॥, निरु० ३।१।४॥

अर्थात् आत्मा निश्चय से पुत्ररूप है। इस प्रकार हिरण्यकश्यप का पुत्र उसका अपना आत्मा हुआ जो प्रसन्नता प्राप्त करता है।

यदि इस पौराणिक दन्तकथा का होलिका पर्व से सम्बन्ध जोड़ा जायेगा तो इस प्रकार जोड़ा जा सकता है—

हिरण्यकश्यप	=	**हिरण्यं पश्यतीति हिरण्यकश्यपः,** अर्थात् कृषक हिरण्यकश्यप है।
होलिका	=	कृषक की निराशा है खेती होगी या नहीं?

१. तेजसि उष्णता। वै०द० २।२।४॥

चिता	=	परमात्मा की कृपा है जो निराशा को भस्म करती है।
प्रह्लाद	=	कृषक की प्रसन्नता है जो फसल तैयार होने पर प्राप्त होती है।
नृसिंह	=	परमात्मा है।

इस अलंकार का तात्पर्य इस प्रकार है कि प्रभूत हिरण्यरूप धन-धान्य को देखने की उत्कण्ठा वाला कृषक हिरण्यकश्यप है। खेती बोने के बाद कृषक निराशा, असमञ्जस में रहता है उसकी वह मनोवृत्ति होलिका है। कृषक की निराशा को नृसिंहरूप परमात्मा चिता रूप कृपा से नष्ट कर देता है, यानी परमात्मा की कृपा निराशा के लिये चिता है, निराशा के नष्ट होने पर कृषक फसल को प्राप्त कर प्रसन्न होकर प्रह्लाद बन जाता है, उसकी प्रसन्नता का कोई ठिकाना नहीं रहता।

इस प्रकार उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट होता है कि यह **'वासन्ती नवसस्येष्टि'** अपर नाम **'होलिका पर्व'** धन-धान्य की प्राप्ति का पर्व है और यह राष्ट्रीय पर्व है। इस पर्व के अवसर पर परस्पर प्रीति सद्भाव, समता तथा एकता का संकल्प लेना चाहिये और अपनी प्राचीन परम्पराओं की मर्यादा बनाये रखना चाहिये, क्योंकि भारतीय पर्व जहाँ सामाजिक उत्सवरूप हैं, वहीं उनमें मनुष्य जीवन का एक अत्यन्त गम्भीर रहस्य निहित है। उस रहस्य में उल्लास का अनन्त स्रोत है, जो भारतीय जीवनधारा की तरंगों में प्रवाहित होता है, उसकी उपलब्धि एवंविध पर्वों की पवित्रता तथा परस्पर उल्लास, हर्ष प्रदान करने में ही है और यह उपलब्धि ही पर्वों की सार्थकता है।

श्रावणी पर्व और हम

परम कारुणिक प्रभु ने कलात्मक रचना करके नाना प्रकार की उपभोग सामग्रियाँ तथा ऋतुयें प्रदान की हैं, वर्षाकाल की देन भी परमात्मा की अत्यन्त अद्भुत और सुखद देन है। इसकी मोहकता को सहृदय कवियों ने जहाँ केवल श्रृंगार रस में डूब कर ही देखा है और वैसी ही काव्य रचना की है, वहीं गृह, परिवार, समाज के सजग प्रहरी ऋषि मुनियों ने वर्षा ऋतु जीवन निर्माण की उत्तम ऋतु समझी है। इस सुहावनी ऋतु में श्रावणी का पर्व मनाया जाता है, यह पर्व प्रतिवर्ष श्रावण मास की पूर्णिमा को पदार्पण करता है।

इस पर्व के कई अभिधान हैं, यथा-

१. **श्रावणी पूर्णिमा** = श्रवण नक्षत्र के योग के कारण तथा सुनने का कार्य विशेष रूप से होने के कारण।

२. **उपाकर्म** = प्रारम्भ या समीप जाने के प्रयत्न के कारण।

३. **ऋषि तर्पण** = स्वाध्याय द्वारा तृप्त करने के कारण

४. **रक्षा बन्धन (राखी पूनम)** = रक्षासूत्र बाँधने के कारण

५. **संस्कृत दिवस** = वेदों के संस्कृत में होने के कारण भारत सरकार द्वारा स्वीकृत दिवस।

६. **हैदराबाद सत्याग्रह बलिदान दिवस** = सत्याग्रहियों के बलिदान स्मृति के कारण।

"श्रवणनक्षत्रेण युक्ता पौर्णमासी इति श्रावणी पौर्णमासी" इस श्रावणी पर्व का जहाँ श्रवण नक्षत्र के साथ सम्बन्ध है वहीं इस पर्व का श्रवण = सुनना-सुनाना इस कर्म से भी सम्बन्ध है, **यानी यह पर्व विद्या और ज्ञान का पर्व है।** विद्या या ज्ञान उपलब्धि के श्रवण-मनन एवं निदिध्यासन तीन साधन हैं। इस त्रयी में श्रवण का प्रथम स्थान है, श्रवण ज्ञान की आधार शिला है, इस श्रवण पर ही मनन किया जाता है, जब तक पढ़ाया और बताया हुआ, सुना न जाये, तब तक मनन नहीं होगा और वह ज्ञान हमारा

अङ्ग नहीं बन सकता। यह श्रावणी पर्व वह द्वार है जिसमें प्रविष्ट होकर हम ज्ञान महल के विस्तृत आयाम तक पहुँचने का प्रयत्न करते हैं।

वर्षाकाल में सभी वर्ण के जन अपने-अपने विभागों से विरत हो जाते हैं। ग्रामीण कृषक जन श्रावणी पूर्णिमा तक बुवाई, जुताई का कार्य पूर्ण कर चुके होते हैं। क्षत्रिय वर्ग भी जलाधिक्य के कारण राष्ट्र रक्षार्थ विजय-यात्राओं से विरत हो जाते हैं। वैश्य भी वाणिज्य व्यापार को रोक देते हैं और इधर वनों-आश्रमों में रहने वाले ऋषि, मुनि, साधक, तपस्वी, विद्वद्गण अरण्यों को छोड़कर ग्राम और नगरों में आ जाया करते हैं ऐसी परम्परा प्राचीन काल से रही है, क्योंकि वर्षाकाल में आरण्यक आश्रमों में रहना उचित नहीं रहता। नगरों में आकर ऋषि, मुनि वेदों का उपदेश करते थे। ऋचाओं के श्रवण की धुन चतुर्दिक् मच जाती थी। सभी जन इस समय ऋषियों के वेदोपदेशों के द्वारा सम्पूर्ण संवत्सर की जीवनी शक्ति प्राप्त करते थे, यह उनके लिए स्वर्णिम अवसर होता था। वर्षाकाल से अतिरिक्त समय में कार्यनिष्ठा का प्राधान्य होने से आत्मा की उन्नति की ओर ध्यान नहीं के बराबर जा पाता था। इस समय ऋषियों से वेदज्ञान को श्रवण कर वेदानुयायी बनने के लिए सभी समुत्सुक रहते थे, अतः इस पर्व का सुनने के आधार पर "श्रावणपर्व" अन्वर्थ नाम हो गया। इस पर्व में वेद का पठन-पाठन होना चाहिये, इसका संकेत स्वतः वेद में ही किया गया है-

संवत्सरं शशयाना ब्राह्मणा व्रतचारिणः।
वाचं पर्जन्यजिन्वितां प्रमण्डूका अवादिषुः।।

ऋ० ७।१०३।१।।
अथर्व० ४।१५।१३।।

अर्थात् **संवत्सरम्** = वर्ष भर निरन्तर, **शशयानाः** = सोते हुए अर्थात् कहीं छुपकर पड़े हुए, **व्रतचारिणः** = न बोलने वाले = वर्षा ऋतु में ही बोलने वाले (**व्रतचारिणोऽब्रुवाणाः अपिवोपमार्थे स्यात् ब्राह्मणा इव व्रतचारिण इति,** निरु० ६।१।३।।), **मण्डूकाः** = जलवासी मेंढक, **पर्जन्यजिन्विताम्** = मेघ से प्रदान की हुई, **वाचम्** = वाणी को, **प्र अवादिषुः** = बोलते हैं, उसी

प्रकार, **व्रतचारिणः** = व्रतपालक अर्थात् वर्ष भर वेद का अध्ययन करने वाले, **ब्राह्मणाः** = वेदज्ञ विद्वान्, **पर्जन्यजिन्विताम्** = मेघ से संतृप्त वाणी को यानि मेघ बरसते हैं उस काल में, **वाचम्** = वाणी को, **प्र अवादिषुः** = प्रवचन करें।

तात्पर्य हुआ व्रतचारी ब्राह्मण लोगों को वेद का उद्घोष करना चाहिये और वह उद्घोष किस प्रकार से हो, इसका आलंकारिक वर्णन करते हुए वेद ने बताया- कि जिस प्रकार वर्षभर तक मेंढक चुप रहते हैं और वर्षा ऋतु में अपनी टर्-टर् ध्वनि से दिग्दिगन्त को भर देते हैं। उसी प्रकार जो वेद के अध्येता वर्ष भर वेदाध्ययन करते हैं वे वर्षा ऋतु में उस वेदज्ञान को सर्वत्र पहुँचावें, उसका प्रवचन करें।

वेद की दृष्टि से **ब्राह्मणों द्वारा वर्षाकाल से पूर्व तक वेदज्ञान को अर्जित करना, उसके अभ्यास में समय लगाना और मेंढकों का वर्षाकाल से पूर्व तक चुप पड़े रहना,** उनका सो जाना है, **और वर्षाकाल में ब्राह्मणों द्वारा विशेष रूप से प्रवचन करना और मेंढकों का बोलना,** जाग जाना है। वेद की इस दृष्टि को न समझकर उल्टा ही अभिप्राय लगाकर तथाकथित ब्राह्मण वर्ग द्वारा जड़ देवताओं (प्रस्तर प्रतिमाओं) को, **आषाढ़ शुक्ला एकादशी के दिन सुलाकर,** उस एकादशी को **'हरि शयिनी'** एकादशी कहा जाता है और **कार्त्तिक शुक्ला एकादशी को** उन प्रस्तर देवों को जगाकर, उस एकादशी को **देवोत्थान एकादशी** कहा जाता है। यह प्रथा काशी में बहुलता से प्रचलित है। इन दोनों एकादशियों के दिन विद्यालयों में अनध्याय भी रखा जाता है। देवों को सुलाना और उठाना एतादृश कार्य वेदविरुद्ध होने से सर्वथा त्याज्य हैं।

वर्षाऋतु में वेद का श्रवण-श्रावण होवे, इसका निर्देश मनुस्मृति, रामायण आदि में भी किया गया है, यथा-

श्रावण्यां प्रौष्ठपद्यां वाऽप्युपाकृत्य यथाविधिः।
युक्तश्छन्दांस्यधीयीत मासान् विप्रोऽर्धपञ्चमान्।।

मनु० ४।९५।।

अर्थात् ब्राह्मण आदि श्रावणी व भाद्रपदी पूर्णिमा को उपाकर्म करके

साढ़े चार मास तक उद्यत होकर वेदाध्ययन करें।

इसी प्रकार वाल्मीकि महर्षि ने भी मेढकों के नदन की चर्चा करते हुए कहा-

स्वनैर्घनानां प्लवगाः प्रबुद्धा विहाय निद्रां चिरसन्निरुद्धाम्।
अनेकरूपाकृतिवर्णनादा नवाम्बुधाराभिहता नदन्ति।।

वा० किष्कि० २८।३८।।

अर्थात् मेघों के गर्जन से प्रबुद्ध हुए मेंढक बहुत काल से की जा रही निद्रा को छोड़कर अनेक वर्णध्वनि वाली नव अम्वुधारा से ताडित वाणी को बोलते हैं।

वाल्मीकि महर्षि के कथन का अनुवाद करते हुए रामचरितमानस में तुलसीदास जी ने लिखा-

दादुर धुनि चहुँ दिसा सुहाई। वेद पढ़हिं जनु वटु समुदाई।

राम० मा० किष्कि० १४।१

अर्थात् चारों दिशाओं में मेंढकों की ध्वनि ऐसी सुहावनी लगती है मानो विद्यार्थियों के समुदाय वेद पढ़ रहे हों।

इस प्रकार इन सभी प्रमाणों से ज्ञात हुआ कि श्रावणमास की पूर्णिमा से लेकर चातुर्मास के अन्त तक अधिक से अधिक समय वेद के श्रवण-श्रावण में लगाया जाना चाहिये। चातुर्मास के अनन्तर ही पौष या माघ में वेदाध्ययन के इस विशेषकाल में परिवर्तन होना चाहिये, यथा-

पुष्ये तु छन्दसां कुर्यात् बहिरुत्सर्जनं द्विजः।
माघशुक्लस्य वा प्राप्ते पूर्वाह्णे प्रथमेऽहनि।।

मनु० ४।९६।।

अर्थात् पुष्य नक्षत्र वाली पूर्णिमा (पौषी) में या माघशुक्ला के प्रथम दिन के पूर्वाह्ण में वेद का उत्सर्जन कर्म गाँव के बाहर करे।

मनु महाराज के इस वचन का तात्पर्य यह हुआ कि जो वेद प्रवचन का विशेष कार्य ग्राम नगरवासियों के लिए प्रारम्भ हुआ था, उसका वर्षा समाप्ति के पश्चात् उत्सर्जन करना चाहिये, क्योंकि कर्मप्रधान मनुष्य के लिये कर्म करना भी आवश्यक है। पर इस समय स्वाध्याय आदि की जो प्रेरणा प्राप्त होती है उसका त्याग नहीं करना है अपितु उसे नित्य ही करते रहना है और

वह स्वाध्याय दो प्रकार का है- प्रथम तो सु + आ + अध्याय = स्वाध्याय, अर्थात् वेदादि सत्य शास्त्रों का आ = पूर्णता से सु = भली प्रकार चिन्तन करना।

दूसरा स्व + अध्याय = स्वाध्याय कहाता है, इसका तात्पर्य है आत्मा तथा शरीर आदि के ज्ञान के लिए प्रयत्न करना। यथा किसी महापुरुष की जीवनी से अपने जीवन की तुलना कर, अपने जीवन की न्यूनताओं को दूर करना। और जो अपने अन्दर काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मात्सर्य षड्रिपु हैं उनको दूर करना, जिससे कि मुझ व्यक्ति से किसी को कष्ट न पहुँचे।

इन दोनों प्रकार के स्वाध्याय से होता क्या है, इसे बताते हुए मनु महाराज लिखते हैं-

य: स्वाध्यायमधीतेऽब्दं विधिना नियत: शुचि:।
तस्य नित्यं क्षरत्येष पयोदधि घृतं मधु।।

मनु० २।१०७।।

अर्थात् जो वर्ष पर्यन्त विधिपूर्वक नियम से पवित्र होकर स्वाध्याय करता है उसके लिए स्वाध्याय दूध, दही, घृत, मधु को बरसाता है। कहने का तात्पर्य हुआ स्वाध्यायशील के लिये इन पदार्थों को प्राप्त करना बड़ा सरल होता है।

इस स्वाध्याय में व्यवधान, अन्तराल नहीं होना चाहिये, इसका निर्देश भी मनु महाराज ने किया है-

वेदोपकरणे चैव स्वाध्याये चैव नैत्यके।
नानुरोधोऽस्त्यनध्याये होममन्त्रेषु चैव हि।।

मनु० २।१०५।।

अर्थात् वेदादि शास्त्रों के स्वाध्याय में तथा नैत्यक स्वाध्याय में और होम मन्त्रों में अनध्याय नहीं होना चाहिये अर्थात् इनकी अनध्याय में गणना नहीं है।

इस स्वाध्याय के प्रारम्भ का संकल्प श्रावणी पर्व से लिया जाता है अत: यह उपाकर्म नाम से भी कहा जाता है। ऋषि परमात्मा के द्वारा प्रदत्त वेद का पठन-पाठन श्रावणी पर्व से होने के कारण इसे "ऋषि तर्पण" भी

कहते हैं और इन वेदों को मन्त्रद्रष्टा ऋषियों ने श्रवण-श्रावण द्वारा हम तक पहुँचाया है अतः वेद के पढ़ने से उन ऋषियों की तृप्ति होने के कारण भी यह **'ऋषितर्पण'** कहा जाता है, क्योंकि ऋषियों की तृप्ति वेदों के पठन-पाठन एवं स्वाध्याय से ही होती है, जैसा कि मनु महाराज ने कहा-

स्वाध्यायेन अर्चयेदृषीन्। मनु० ३।८१।।

अर्थात् ऋषियों की तृप्ति स्वाध्याय से करे।

जिन वेदादि शास्त्रों का अध्ययन श्रावणी पर्व पर प्रारम्भ होता है वे ग्रन्थ संस्कृत भाषा में हैं अतः हमारी भारत सरकार ने इस दिवस को **संस्कृत दिवस के नाम से** घोषित किया हुआ है, जो वेदाध्यायियों के आँसू पोंछने के लिये ही है।

हमारे भारतीय संविधान में पन्द्रह भाषाओं को महत्व दिया गया है वे हैं- **उर्दू, अंग्रेजी** इत्यादि, उनमें **संस्कृत का** नाम नहीं है। जो यथेच्छ जैसे **'लैटिन' 'ग्रीक'** आदि भाषायें हैं, उनमें **'संस्कृत'** का नाम रखा है। इसी प्रकार जो त्रिभाषा फार्मूला है उसमें भी हिन्दी, अंग्रेजी और उर्दू है उनमें भी संस्कृत का नाम नहीं है। अपने देश के प्रथम प्रधानमंत्री जवाहरलाल नेहरू तथा उनकी बिटिया इन्दिरा गांधी ने तो संस्कृत का बेड़ा गर्क ही कर दिया। इन्दिरा गांधी ने अपने शासन काल में तीन हजार उर्दू अध्यापकों को नियुक्त किया, संस्कृतज्ञों को वह वरीयता नहीं दी।

श्रावणी पर्व के साथ एक महत्वपूर्ण कड़ी-जुड़ी हुई है, वह यह है कि इस दिन **हैदराबाद सत्याग्रह बलिदान दिवस** बड़े सोत्साह मनाया जाता है। इस पर्व को बलिदान रूप में मनाने का यह कारण है कि निजाम सरकार ने जैसे और पाबन्दियाँ लगा रखी थी, वैसे ही उसने वेद प्रचार सप्ताह न मनाने की भी पाबन्दी कर दी थी। पर आर्य भी उस सरकार की अनसुनी करके वेद प्रचार सप्ताह बड़े धूमधाम से मनाते थे, उसमें हाथी और रथ की सवारियाँ भी होती थी। पुनः निजाम शासन समाप्त होने पर हैदराबाद के सत्याग्रह में जो आर्य वीरगति को प्राप्त हुवे तथा जिन्होंने देश, धर्म के लिए अपना सर्वस्व अर्पण कर दिया, अपने उन साथियों को स्मरण करने के लिए श्रावणी पर्व का चयन किया और इस पर्व को बलिदान दिवस के रूप में मनाकर बलिदानियों का स्मरण किया जाता है।

लोकभाषा में विद्या और ज्ञान के पर्व श्रावणी को **रक्षाबन्धन-राखी, राखी पूनम** इन नामों से अभिहित किया जाता है। राखी का माहात्म्य इतिहास-प्रसिद्ध है। इस राखी को भारतीयों ने ही महत्व नहीं दिया, अपितु मुसलमानों ने भी दिया। राखी बांधने की प्रथा मुगल काल से प्रारम्भ हुई, क्योंकि उस समय भारतीय ललनाओं को दुष्टों की कुदृष्टि तथा अपहरण से बचाने के लिए समाज का अहं प्रश्न था। भारतीय ललनायें अपनी रक्षा के लिये, आततायियों की कुदृष्टि से बचने के लिये पराश्रित सी थीं उस समय जव बहादुर शाह ने चित्तौड़ पर चढ़ाई की, तब महारानी कर्णवती ने मुगल बादशाह हुमायूँ के पास रक्षार्थ राखी भेजी थी, और इधर हुमायूँ ने भी वहन के नाजुक नाते को समझकर उसकी रक्षा की, और शत्रुओं के पंजों से चित्तौड़ को बचा लिया। तभी से भाई बहिन के स्नेह का प्रतीक यह सूत्र बन्धन भी श्रावणी पर्व से जुड़ गया और **'रक्षाबन्धन' नाम से प्रसिद्ध हो गया।** इस पर्व पर सभी वहिनें अपने प्यारे भाइयों की कलाई में अत्यन्त स्नेहपूर्वक राखी बांधती हैं और साथ ही अपने अन्तर्मन में इन भावों को दोहराती जाती हैं-

तेरा नाम हमेशा चमके चाँद सितारों में,
धागों का त्यौहार है राखी भारत के त्यौहारों में।।

दक्षिण आदि प्रदेशों में पति-पत्नी, मामा-भांजी आदि सम्बन्धों में भी राखी बांधी जाती है। वस्तुतः यह पर्व भाई बहन के स्नेह का प्रतीक है इसमें लेन-देन का सम्वन्ध नहीं है, लेन-देन तो भाई की इच्छा और सामर्थ्य पर ही निर्भर करता है अतः जो आज इस स्नेह पर्व के साथ भाई को देने की प्रथा आवश्यक समझी जाती है, या वे देना आवश्यक समझते हैं, वह पर्व की पृष्ठभूमि से बहुत ही दूर होते हैं।

और कुछ अनगढ़ ब्राह्मण भी इस पर्व पर राखी लेकर धन के लालच में घर-घर मारे फिरते हैं, वह भी उचित नहीं है। मध्यकाल में जब कर्मकाण्ड की भरमार थी और जन्मना ब्राह्मणों ने वैदिक विधानों को अपनी ही थाती समझ लिया था, उस समय उन तथाकथित ब्राह्मणों ने अन्य त्रिवर्ण के लोगों के दाहिने हाथ में-

हिरण्यभूषितां यवपोटलिकां विचित्रतन्तुबद्धाम्।
ए रक्षत नो रक्षितारो गोपायत गोपायितारः।।

तथा 'येन बद्धो बली राजा दानवेन्द्रो महाबलः।
तेन त्वामनुबध्नामि रक्षे मा चल मा चल॥
तुवं यवायि...।
रक्षातो३ का३म् ऊता२३ हा ३४ऽ३यि।
त्मा२३४ नो६ हायि। इत्यनेन रक्षाबन्धनम्।
गो० गृ० कर्मप्रकाशिका पृ० ३१०-३११॥

अर्थात् सुवर्ण तथा जौ की पोटरी से भूषित रक्षा सूत्र को **'येन बद्धो०'** आदि मन्त्रों द्वारा बाँधे।

इन वचनों के द्वारा सूत्र बांधना प्रारम्भ कर दिया।

यदि इन ब्राह्मणों ने अपने इस सूत्र बन्धन कर्म के साथ-साथ अपने यजमानों को वेद के स्वाध्याय में भी बांधा होता तो समाज का बड़ा उपकार होता। पर इन्हें तो अपने घर द्वार की चिन्ता के समक्ष दूसरे की चिन्ता करने का कोई औचित्य ही नहीं दीखता।

इन ब्राह्मणों के हाल तो बड़े विचित्र हैं, ये तो 'ऋषितर्पण के नाम पर- **राणायनिस्तृप्यतु, शाटचमुग्रस्तृप्यतु, व्यासस्तृप्यतु, भागुरिस्तृप्यतु, मशकोगार्ग्यस्तृप्यतु, वृकोदरस्तृप्यतु, गर्द्दभीमुखस्तृप्यतु, मशकस्तृप्यतु, ब्रह्मा तृप्यतु,** गोभि०गृ०कर्मप्रकाशिका पृ० २९७-३०१ इत्यादि ५-६ पृष्ठों में पठित तर्पण वाक्यपदों का उच्चारण कर अंगुलियों के अग्रभाग तथा कुशाओं की पवित्री के अग्रभाग से चावल आदि ग्रहण कर, संकल्प बोलकर, प्रत्येक को एक-एक जलाञ्जलि देकर **'ऋषितर्पण'** कृत्य की इतिश्री समझ लेते हैं। वेदों के पठन-पाठन की चर्चा तो उनके सामने रहती ही नहीं। बहुत हुआ तो **'तैत्तिरीय' आदि शाखाओं या भागवतादि पुराणों को बांच लेते हैं** जो ऋषि परमात्मा तथा मन्त्र द्रष्टा ऋषियों के प्रति वंचनापूर्ण कार्य है।

इस प्रकार **श्रवण अन्वर्थ वाले श्रावणी पर्व** की महत्ता को ध्यान में रखते हुवे वेदों का पठन-पाठन श्रावणी से यथाशक्ति, यथा कालानुसार प्रारम्भ करने का अवश्य ही संकल्प लेना चाहिये और ब्राह्मण वर्ग को भी जन समुदाय को इसके लिये तैयार करना चाहिये जिससे गृह, परिवार, समाज एवं राष्ट्र को सुख, शान्ति का वरदान मिल सके।

योगिराज श्रीकृष्ण

भारतीय इतिहास की महत्तम विभूतियों में योगिराज वासुदेव श्रीकृष्ण अप्रतिम महापुरुष हैं, जिनके क्रान्तदर्शी जीवन ने इतिहास को नई दिशा प्रदान की है। श्रीकृष्ण महाराज के उद्भव के समय भारत अनेक खण्डों में विभक्त हो गया था। अनेक छोटे-छोटे राज्य अपना मनमानी शासन चला रहे थे, आतताई कंस, जरासन्ध, उद्दण्ड शिशुपाल सदृश दुराचारी राजाओं के कारण राज्य व्यवस्था क्रूरता की पराकाष्ठा पर पहुँच चुकी थी। ऐसे समय में श्रीकृष्ण ने अपने अद्भुत चातुर्य से राष्ट्रघातक शक्तियों का विनाश कर मर्यादित स्वस्थ समाज बनाया, और जो उग्रसेनादि राजा अपदस्थ हो चुके थे, उन्हें पुनः राजगद्दी पर समासीन किया तथा दक्षिण से लेकर उत्तर तक, पश्चिम से पूर्व तक समस्त राष्ट्र को बलवान् एवं अपराजेय वनाकर एक सूत्र में आवद्ध किया।

श्रीकृष्ण वचपन से ही वड़े योद्धा एवं शूरवीर थे, इस तथ्य की पुष्टि विख्यात मल्ल मुष्टिक तथा चाणूर और कुवलयापीड़ हस्ती आदि के वध की घटनाओं से भलीभाँति हो जाती है। उनमें केवल शारीरिक बल और उच्च शिक्षा ही नहीं थी अपितु सेनापतित्व की क्षमता भी अद्भुत थी। सेनापतित्व की क्षमता का होना योद्धा का प्रथम आवश्यक गुण है। श्रीकृष्ण के सेनापतित्व का परिचय जरासन्ध के युद्ध से ज्ञात होता है, उन्होंने अपने मुट्ठी भर यादव सैन्य वल से जरासन्ध को मथुरा से मार भगाया था। श्रीकृष्ण ने अपनी राजनैतिक रण-पटुता के कौशल द्वारा मथुरा छोड़कर नया नगर बसाने के लिए द्वारिका द्वीप को चुनकर तथा रैवतक पर्वत माला में दुर्भेद्य दुर्ग निर्माण कर अपनी राजनैतिक विज्ञता का परिचय दिया है।

श्रीकृष्ण अद्वितीय वेदज्ञ थे, उन्होंने वेदों की आज्ञाओं को, निर्देशों को जीवन में उतारा हुआ था। उनकी धार्मिकता, सत्यता, न्यायप्रियता, कर्मनिष्ठा आदि से सभी अभिभूत थे। श्रीकृष्ण महाराज इन गुणों में ही अपने जीवन की सार्थकता समझते थे, तभी तो दुर्योधन के पास विशाल जन, धन का

वल वैभव होते हुये भी उन्होंने अधर्म और अन्यायपूर्ण पक्ष का अवलम्बन नहीं किया अपितु धर्मयुक्त पक्ष के पक्षधर बने, तथा युद्ध की उपादेयता पर विचार करने वाले निरुत्साहित अर्जुन को धर्म, न्याय और आत्मा एवं शरीर की नित्यता, नश्वरता का उपदेश देकर धर्मयुद्ध के लिये अर्जुन को तैयार किया, एवं स्वयं सारथित्व का पद ग्रहण कर धर्म की विजय कराई, जैसा कि उद्योग पर्व में संजय कहते हैं-

यतः सत्यं यतो धर्मो यतो ह्रीरार्जवं यतः।
ततो भवति गोविन्दो यतः कृष्णस्ततो जयः।।

उद्योग० ६८।६।।

अर्थात् जहाँ सत्य है, जहाँ धर्म है, जहाँ लज्जा है, जहाँ ऋजुता है वहीं गोविन्द होता है। जहाँ कृष्ण है वहाँ जय होती है। इस प्रकार श्रीकृष्ण धर्म के ही प्रतिपादक थे, यह सुस्पष्ट है।

दूसरों के कष्ट को अपना कष्ट समझने वाले श्रीकृष्ण ने वीरोचित कार्य करके सभी को सुख, शान्ति प्रदान की, जिससे वे नगरवासियों एवं अपने बाल गोपाल साथियों के पथ प्रदर्शक, हित चिन्तक बन गये। अपने इन कार्यों से सभी के हृदयों में ऐसा स्थान बना लिया कि उनके अभाव में सभी नर-नारी अपने को अधूरा समझते थे। श्रीकृष्ण महाराज ने यह प्रतिष्ठा, जन साधारण की श्रद्धा-आस्था किसी देश विशेष के अधिपति या युवराज होने के कारण प्राप्त नहीं की थी, अपितु ये सभी उपलब्धियाँ उन्होंने अपने असाधारण पराक्रमपूर्ण कार्यों एवं राष्ट्रीय सेवाओं से अधिगत की थीं।

श्रीकृष्ण धन, वैभव के इच्छुक नहीं थे, वे धर्म, न्याय, सत्यता के ही पुजारी थे, वे दुष्ट राजाओं को पराजित कर स्वयं राजगद्दी पर नहीं बैठे, अपितु तत्-तत् राजाओं को उनका राज्य सौंप दिया। ऐसे महापुरुष को राष्ट्र का जन-जन जानता है और प्रति वर्ष भाद्रपद की अष्टमी को उनका स्मरण करता है।

अपने अनिर्वचनीय गुणों के कारण श्रीकृष्ण महाराज योगिराज कहे जाते हैं। श्रीकृष्ण महाराज अपने जीवन में सामाजिक कार्य करते हुए

निष्कलंक एवं पवित्र थे। युग प्रणेता ऋषिवर दयानन्द ने गुणागार श्रीकृष्ण के चरित्र की प्रशंसा करते हुए लिखा है-

"देखो श्रीकृष्ण जी का इतिहास महाभारत में अत्युत्तम है। उनका गुण, कर्म, स्वभाव और चरित्र आप्त पुरुषों के सदृश है। जिसमें कोई अधर्म का आचरण श्रीकृष्ण जी ने जन्म से मरण पर्यन्त बुरा काम कुछ भी किया हो, ऐसा नहीं लिखा। और इस भागवत वाले ने अनुचित मनमाने दोष लगाये हैं। दूध, दही, मक्खन आदि की चोरी और कुब्जा दासी से समागम, परस्त्रियों से रासमण्डल, क्रीडा आदि मिथ्या दोष श्रीकृष्ण जी में लगाये हैं उनको पढ़-पढ़ा, सुन-सुना के अन्य मत वाले श्रीकृष्ण की बहुत सी निन्दा करते हैं, जो यह भागवत न होता तो श्रीकृष्ण जी के सदृश महात्माओं की झूठी निन्दा क्यों कर होती।"

सत्यार्थ०एका०पृ० ३२०।।

इसी प्रकार श्रीकृष्ण की वीरता का उदाहरण देते हुए स्वामी जी लिखते हैं-

"जब संवत् १९१४ के वर्ष में तोपों के मारे मन्दिर मूर्तियाँ अंग्रेजों ने उड़ा दी थीं, तब मूर्ति कहाँ गई थी ? ....जो श्रीकृष्ण के सदृश कोई होता तो इनके धुर्रे उड़ा देता, और ये भागते फिरते।"

सत्यार्थ०एका०पृ० ३०५।।

महर्षि दयानन्द ने योगिराज श्रीकृष्ण महाराज के जिस उत्तम चरित्र को उजागर किया है, इसके विपरीत श्रीमद्भागवत पुराण में तथा जयदेव कृत 'गीत गोविन्द' में श्रीकृष्ण विषयक चरित्र को पढ़कर लज्जा से सिर झुक जाता है। इन ग्रन्थों में उस महापुरुष को गोपिकाओं का चीरहरण करने वाला, उनके साथ नृत्य करने वाला, रासलीला रचाने वाला बताया गया है। भला हम सोचें ? जो योगी होगा, जिसने १२ वर्ष की ब्रह्मचर्य की तपस्या कर प्रद्युम्न जैसे पुत्र रत्न को उत्पन्न किया होगा, वह गोपवधूटियों के वस्त्रों को चुरावेगा ? जिसके घर दूध, दही, मक्खन के भण्डार हों, वह आस-पड़ोस के घरों में दही, मक्खन चुराता फिरेगा ? हा दैव !!!

कृष्ण को भगवान् मानने वाले उस महान् पुरुष के निष्कलंक जीवन चरित्र पर गर्हित, बीभत्स गाथायें जोड़कर यत् किञ्चित् भी नहीं लजाते। वड़े गौरव के साथ निकृष्ट विशेषणों को श्रीकृष्ण के नाम के आगे जोड़कर, निम्न शब्दों में मंगलाभिनन्दन वन्दन करते हैं-

नूतनजलधररुचये गोपवधूटीदुकूलचौराय।
तस्मै कृष्णाय नमः संसारमहीरुहस्य बीजाय।।

न्यायसिद्धान्त-मुक्तावली का० १।१।।

अर्थात् नवीन मेघ के सदृश कान्ति वाले, तथा गोपों की नवयुवतियों के वस्त्र चुराने वाले, संसार रूप वृक्ष के कारणरूप जगत् प्रसिद्ध श्रीकृष्ण को नमस्कार है।

सोचने की बात है, जिनका भगवान् ही ऐसे कुत्सित कर्म करेगा, उसके उपासक चार हाथ वढ़के ही तो होंगें ? जव भगवान् ही इस प्रकार के कार्य करने लगेंगें, तो उसके पुत्रों का क्या हाल होगा ? तो पुनः क्योंकर समाज में भ्रष्टाचार का रोना रोया जाता है ? भ्रष्टाचार तो धरोहर में मिला है ? अरे पुराण वाँचने वालो ! यह सव आपके मन की दूषितता के वुलवुले हैं, अपनी कलुषितता को योगिराज पर थोपना चाहते हो, उस योगिराज ने अपने जीते जी पापाचारियों को नष्ट भ्रष्ट कर दिया था और आज उनके चरित्र पर कीचड़ उछालने वालों को उनके नाम के साथ जोड़े गये वीभत्स विशेषणों का कोप नष्ट कर रहा है-थोड़ा समझो और जानो।

'गोपवधूटीदुकूलचौराय' का जाप करते-करते आज मानव का मन, तन दूषित हो गया है, भ्रूण हत्या, एड्स आदि पापाचार के रोगों से पीड़ित हो रहा है। यह कैसी विडम्वना है ? एक ओर तो उसे भगवान् माना, दूसरी ओर उस महापुरुष पर दुराचारों की मार ? अरे ! यदि हमारे माता-पिता, पितामह को कोई दुराचारी, गोपियों से छेड़खानी करने वाला वतावे तो कैसी बीतेगी अपने पर ? समाज में मुँह तक न दिखा पायेगें ?

जिस योगिराज के पिता वसुदेव और माता देवकी को सभी जानते पहचानते हैं, पुनरपि उनका जन्म खीरे से प्रतिवर्ष करते हैं। इन भोले लोगों को यह भी

ध्यान नहीं, कि जिसके माता-पिता का इतिहास पन्नों पर सुरक्षित है उसे खीरा से उत्पन्न क्यों कर रहे हैं ? खीरा से उत्पन्न होने की कहानी भी अद्भुत है। श्रीकृष्ण महाराज को जो हमारे महापुरुष थे उन्हें परम पुरुष भी बना दिया और उनका निवास क्षीर सागर बता दिया। वही क्षीर-खीर हुआ और खीर से खीरा हो गया। अब इन आँख के अन्धे गाँठ के पूरे पुजारियों को अपनी पूजा के आगे कुछ सूझता ही नहीं और प्रतिवर्ष उस महापुरुष को खीरे से उत्पन्न करते हैं और उसके जीवन पर दूषित वीभत्स विशेषणों द्वारा कीचड़ की परतें जमाते जाते हैं, इनका कब उद्धार होगा इसका ज्ञाता बस परमेश्वर ही है।

यदि **वासुदेवाय नमः, श्रीकृष्णाय नमः** आदि नारों का उद्घोष करने वाले लोगों ने उनकी धर्मप्रियता, सत्यता तथा वीरता को पाया होता तो आज अपने देश में आतंकियों का आतंक न छाया होता। श्रीकृष्ण के समक्ष भी **'सूच्यग्रं न दास्यामि विना युद्धेन केशव'**[1] के रूप में एक ऐसी चुनौती थी जिसका उन्होंने साहस एवं रणनीति से सामना किया तथा दुर्योधन आदि को परास्त कर धर्मराज्य की स्थापना की। इसी प्रकार उस महापुरुष की वीरता और रणनीति को अपना लिया जाये, तो निश्चित ही देश की वर्त्तमान स्थितियों से छुटकारा पाया जा सकता है।

यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः।
स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्त्तते।।

गीता ३।२१।।

अर्थात् श्रेष्ठ पुरुष जो जो आचरण करता है, अन्य लोग भी वैसा-वैसा ही आचरण करते हैं। वह जो कुछ प्रमाण कर देता है समस्त मनुष्य समुदाय भी उसी का अनुसरण करता है।

---

१. महाभारत में एताहश वाक्य वाक्य उपलब्ध नहीं है, निम्न प्रकार से प्राप्त होना है—

यावद्धि तीक्ष्णया सूच्या विध्येदग्रेण केशव।
तावदप्यपरित्याज्यं भूमेर्नः पाण्डवान् प्रति।।

उद्योग० १२७।२५।।

क्या श्रीराम के लंकाविजय का सम्बन्ध विजयादशमी से है?

प्रकृति नटी के समुपासक भारत देश में पुराकाल से ही आसंवत्सर अनेकविध पर्वों को मनाने की पद्धति रही है। व्युत्पत्तिलभ्य **पर्व** शब्द का अर्थ है—**"पर्वति पूरयति जनान् आनन्देन इति पर्व"** अर्थात् जो हमें आनन्द से पूरित कर दे, एवं उत्साहोल्लास से जीवन को खुशहाल बना दे, वह **"पर्व"** है।

हमारे संवत्सरीय जीवन को सुसम्बद्धता, नियमितता प्रदान करने वाले एवं कर्त्तव्यनिष्ठ बनाने वाले इन पर्वों का विभाजन ३ प्रकार से किया जाता है—

१. समाज या देशविशेष में घटित होने वाली घटनाओं पर आधारित, यथा—**१५ अगस्त, २६ जनवरी आदि।**

२. व्यक्ति विशेष के जीवन से सम्बन्धित, यथा—**श्रीकृष्ण जन्माष्टमी, रामनवमी, शिवरात्रि इत्यादि।**

३. काल, तिथि, वार एवं ऋतुओं पर आधारित, यथा—**शारदीय नवसस्येष्टि (दीपावली), वासन्ती नवसस्येष्टि (होली), विजयादशमी आदि।**

६४ कलाओं से परिपूर्ण मेरे देश में पर्वों को मनाने का शिक्षाप्रद नाटक, सांस्कृतिक नृत्य, महापुरुषों के जीवन की झाँकियाँ, कथावाचन आदि द्वारा उत्तम तरीका समझा जाता रहा है। यानी प्रत्येक शुभावसर पर नयनाभिराम मञ्चनों का आयोजन आवश्यक कृत्य के रूप में होता आ रहा है। उसी क्रम में आजकल वर्षा ऋतु के समापन सूचक **आश्विन शुक्ल विजयादशमी के अवसर पर** श्रीरामचन्द्र का भव्याभिनय, रम्यरामलीला तथा लंकेश्वर रावण का पुतला जलाने की प्रथा सम्पूर्ण राष्ट्र में प्रचलित है।

अब विचारना तो यह है कि जिस ऋतु सम्बन्धी प्रविभाग में आने वाले '**विजयादशमी**' पर्व को हम बड़े हर्षोल्लास के साथ मनाते हैं, श्रीराम तथा रावण के गुण कर्मों का अभिनय करते हैं उसकी वास्तविक सोद्देश्यता क्या है, एवं यथार्थता क्या है?

'**विजयादशमी**' अर्थात् '**विजयायै दशमी या सा विजयादशमी**' जो विजय गमन के लिये निश्चित की गयी दशमी है, वह विजयादशमी हुई। इस प्रकार इस दशमी का सीधा सम्बन्ध ऋतु परिवर्त्तन से है, वर्षा समाप्ति की सूचिका, द्योतिका यह दशमी होती है। आर्यावर्त्त देश में ग्रीष्म, वर्षा, शरद् ये तीनों ऋतुयें चार-चार मासों के विभाग में जानी पहचानी जाती हैं। यथा—

फाल्गुन, चैत्र, वैशाख, ज्येष्ठ इन चार मासों में **ग्रीष्म ऋतु** होती है। आषाढ़, श्रावण, भाद्रपद, आश्विन इन चार मासों में **वर्षा ऋतु** एवं कार्त्तिक, मार्गशीर्ष, पौष, माघ इन चार मासों में **शरद् ऋतु** होती है।

वर्षा ऋतु के चातुर्मास अर्थात् चौमासों में सर्वत्र जलराज का ही साम्राज्य होता है। बाढ़ के कारण नगर, ग्राम, प्रायः नष्ट हो जाते हैं, मार्ग समतल भूमि में परिणत हो जाते हैं एवं सभी कार्य-कलाप ठप से हो जाते हैं[१]। इन दिनों व्यापारी यातायात नहीं कर सकते, राजवर्ग दिग्विजयार्थ प्रयाण करने में समर्थ नहीं होते, यानी सभी प्रकार की यात्रायें रुक जाती हैं, इन चार मासों में। पुनः शरद् ऋतु के आने पर तथा वर्षा के अवसान पर शासक वर्ग दिग्विजयार्थ एवं व्यापारी व्यापारार्थ तैय्यारियाँ करते थे। उस तैय्यारी का यानी कार्य प्रारम्भ करने का दिन हमारे पूर्वजों द्वारा '**आश्विन सुदी दशमी**' को सुनिश्चित कर लिया गया जो '**विजयादशमी**' के नाम से प्रसिद्ध हुई और इसे पर्व के रूप में ससमारोह मनाने लगे।

'**विजयादशमी**' के दिन व्यापारी अपने बहीखाते बदलते थे, क्षत्रिय

---

१. आजकल सम्पूर्ण कार्यकलाप ठप करने की स्थिति नहीं आती है, क्योंकि यह विज्ञान का युग है, ऋतुओं से जूझने के लिये नये-नये साधन और तरीके हैं, पुनरपि वर्षाकाल में कुछ तो कठिनाई होती ही है।

वर्ग शासक वर्ग वर्षा में रखे रहने के कारण कवच, तलवार, प्रास (भाला) आदि शस्त्रों में लगी हुई जंक को साफ करते थे तथा चतुरङ्गिणी सेना को सज्जित करते थे और दशमी को सायङ्काल रथारूढ हो परिभ्रमणार्थ निकलते थे, तदुपरान्त देशाटन या विजय यात्रा के लिये प्रस्थान किया करते थे। इस प्रकार यह **'आश्विन शुक्ला दशमी'** राजा आदि के विजय प्रस्थान की **द्योतिका है, राम की लंका विजय विशेष से इसका यत्किञ्चिदपि सम्बन्ध नहीं है।**

हम भारतीयों का जैसे-जैसे विद्याव्यसन समाप्त होता गया, वैसे-वैसे दृश्य नाटकों का प्राधान्य होता गया, जिसका परिणाम यह हुआ कि जिस प्रकार श्रावणी इत्यादि पर्वों पर कथायें, वेद सप्ताह, यज्ञ इत्यादि करते हैं, उसी प्रकार विजय प्रस्थान की द्योतिका विजयादशमी पर्व पर युद्ध महत्ता, राष्ट्र भक्ति, आदि कार्यक्रमों के स्थान पर रामलीला अर्थात् सीताहरण से लेकर रावणवध तक का नाटक करने लगे और राष्ट्र का रामलीला एवं रावण पुतला जलाने में करोड़ों रुपया व्यय होने लगा और हो रहा है। इस रामलीला के नाटक से विजयादशमी का जो महत्त्व था, जो ऋतु परिवर्तन का संकेत था, उसे हमने ऐसा भुलाया कि दूर-दूर तक भी उस वास्तविकता का ज्ञान ही न रहा।

मात्र विजय शब्द के साम्य को देख इस **'आश्विन दशमी'** के साथ **'चैत्र कृष्णा चतुर्दशी'** को होने वाली **'राम की विजय'** को जोड़ दिया। यह जोड़ना **''कहीं की ईंट कहीं का रोड़ा, भानुमती ने कुनबा जोड़ा''** के सदृश ही है, जिसकी वास्तविकता को न नाटक करने वाले जानते हैं, न इतिहास लेखक।

जिन वाल्मीकि रामायण, रामचरित मानस आदि ऐतिहासिक ग्रन्थों के आधार पर हम रामलीला, भरतमिलाप आदि नाटक करते हैं, उनका आद्योपान्त आलोडन कर लिया जाये, चाहे उनसे सम्बन्धित अन्य ग्रन्थ देख लिये जायें, कहीं पर भी इस प्रकार का कोई संकेत प्राप्त नहीं होगा कि **'आश्विन शुक्ला दशमी'** के दिन **'श्रीरामचन्द्र ने लंका पर विजय**

प्राप्त की थी।' उपर्युक्त तथ्य की पुष्टि में सर्वप्रथम सीताहरण को ही लें जो स्कन्द पुराण के अनुसार माघ मास के कृष्ण पक्ष की अष्टमी को हुआ, तद्यथा—

ततो माघसिताष्टम्यां मुहूर्त्ते वृन्दसंज्ञके।
राघवाभ्यां विना सीतां जहार दशकन्धरः॥

स्क० पु० ब्रह्म० खण्ड धर्मा० महा० ख० २। अ० ५।
श्लो० २२।२३॥ पद्मपु० पा० ३६।२३-२४॥

अर्थात् वृन्द नामक मुहूर्त्त में माघ कृष्ण[1] पक्ष की अष्टमी को राम और लक्ष्मण की अनुपस्थिति में रावण सीता को हर ले गया।

अनन्तर सीता की खोज करते हुये राम-लक्ष्मण पम्पापुरी जाते हैं और वहाँ सुग्रीव से सन्धि करते हैं, पुनः उसके भाई दुराचारी बालि का वध करके सुग्रीव को सिंहासनारूढ करते हैं ततः सीता अन्वेषण का कार्य सुग्रीव को सौंपते हैं, तब तक वर्षा ऋतु आ जाती है। वर्षा के चातुर्मासों में जलदेवता की बाढ़ आयी रहती है, यह सभी जानते हैं। इन दिनों आवश्यक से आवश्यक कार्यों को रोकना पड़ता है अतः सीता की खोज का भी कार्य रोकना पड़ा, क्योंकि वर्षा काल में इतस्ततः जंगलों में जाना और भी कठिन होता है। अतएव वर्षा ऋतु की कठिनता को अनुभव करते हुये श्रीरामचन्द्र सुग्रीव के राज्याभिषेक के पश्चात् सुग्रीव से कहते हैं—

पूर्वोऽयं वार्षिको मासः श्रावणः सलिलागमः।
प्रवृत्ताः सौम्य चत्वारो मासा वार्षिकसंज्ञिताः॥
नायमुद्योगसमयः प्रविश त्वं पुरीं शुभाम्।
कार्त्तिके समनुप्राप्ते त्वं रावणवधे यत॥

किष्कि० २६।१४,१५,१७॥

---

१. सित का अर्थ शुक्ल होता है, पुनरपि यहाँ कृष्ण अर्थ है क्योंकि स्कन्द आदि पुराणों में मास का अन्त अमावास्या को माना गया है, पूर्णमासी को नहीं, अतः गणनानुसार कृष्ण पक्ष की अष्टमी आधे माघ के पीछे होगी।

अर्थात् हे सुग्रीव! वर्षा के ये चार मास आ गये हैं और यह वर्षा ऋतु का श्रावण मास अतिवृष्टि का प्रवर्त्तक है, अतः यह सीता के खोजने का समय नहीं है, इसलिये तुम सुन्दर किष्किन्धा नगरी को जाओ, कार्तिक मास आने पर रावणवध के लिये तुम यत्न करना।

सीता हरण से दुःखी राम को सांत्वना देते हुये लक्ष्मण राम से कहते हैं—

शरत्कालं प्रतीक्षस्व प्रावृट्कालोऽयमागतः।
ततः सराष्ट्रं सगणं रावणं तं वधिष्यसि॥

किष्कि० २७।३९॥

अर्थात् हे सर्वशक्तिसम्पन्न भैया राम! यह वर्षा काल आ गया है, शरत् काल पर्यन्त प्रतीक्षा करो, वर्षा के पश्चात् राष्ट्र और समूह सहित उस रावण को अवश्य मारोगे।

यहाँ ध्यातव्य है—रामायण शिरोमणि टीका में '**शरत्कालम्**' शब्द का अर्थ '**शरत्कालावयवीभूताश्विनपर्यन्तम्**' किया है यानी राम को '**आश्विन मास पर्यन्त**' सीता के खोज करने के कार्य को स्थगित करना पड़ा है, यह इस अंश से स्पष्ट है। तात्पर्य हुआ आश्विन मास तक तो सीता के अन्वेषण का कार्य ही प्रारम्भ नहीं हुआ, पुनः **आश्विन की दशमी को राम की विजय का उत्सव मनाना अनर्गल क्रिया मात्र है।**

पुनः वर्षा ऋतु के चले जाने पर राम दुःख से पीड़ित होते हुये लक्ष्मण से कहते हैं—

शारदं गगनं दृष्ट्वा जगाम मनसा प्रियाम्॥

किष्कि० ३०।६॥

चत्वारो वार्षिका मासा गता वर्षशतोपमाः।
मम शोकाभितप्तस्य तथा सीतामपश्यतः॥

किष्कि० ३०।६४॥

अर्थात् वर्षा चले जाने पर शरद् ऋतु का बादलरहित आकाश देखकर श्रीराम मन से अपनी प्रिया सीता की ओर चले गये और लक्ष्मण से कहने लगे, हे लक्ष्मण! वर्षा के चार मास सौ वर्ष के समान मुझ शोक से सन्तप्त को सीता को न देखते हुये बीत गये।

इसी प्रकार रामचरित मानस में गोस्वामी तुलसी दास जी लिखते हैं—

वर्षा गत निर्मल ऋतु आयी। सुधि न तात सीता कै पाई॥
एक बार कैसेहुँ सुधि जानौं। कालहौ जीति निमिष महुँ आनौं॥

रामचरित० किष्कि० १७।१॥

अर्थात् वर्षा बीत गयी है और निर्मल शरत् ऋतु आ गयी, परन्तु हे तात! सीता की कोई खबर नहीं मिली। एक बार कैसे भी पता लग जाये, तो काल को भी जीतकर पलभर में जानकी को ले आऊँ।

इस प्रकार इन सभी प्रमाणों से सुस्पष्ट है कि आश्विन मास तक सीता का पता तक भी नहीं चला था, पुनः किस प्रकार रावण वध आश्विन की दशमी को सम्भव है? मात्र हम **'अन्धेनैव नीयमाना यथान्धाः'** कठो० २।५॥ के सदृश आश्विन मास की दशमी को श्री राम की विजय का उत्सव एवं रावण के पुतला जलाने का निराधार नाटक करते हैं, जो इतिहास के नितान्त विरुद्ध है।

तथा च आश्विन मास के पश्चात् भी राम सीता से नहीं मिल पाये, तभी तो राम की निशानी अँगूठी लेकर अशोक वाटिका में हनुमान् के पहुँचने पर सीता जी राम को अपना सन्देश भेजती हुई कहती हैं—

स वाच्यः संत्वरस्वेति यावदेव न पूर्यते।
अयं संवत्सरः कालस्तावद्धि मम जीवितम्॥
वर्त्तते दशमो मासो द्वौ तु शेषौ प्लवंगम।
रावणेन नृशंसेन समयो यः कृतो मम॥

सुन्द० ३७।७,८॥

अर्थात् हे हनुमान्! तुम श्रीराम से कहना कि यहाँ आने में शीघ्रता करें, मुझ सीता को केवल एक वर्ष की अवधि मिली है, मेरा जीवन तभी तक है, यह दसवाँ मास चल रहा है, वर्ष में दो मास ही शेष हैं, जो निर्दयी रावण ने मेरे लिये अवधि निश्चित की है।

यहाँ विचारणीय तथ्य यह है कि स्कन्द एवं पद्मपुराण के अनुसार **'माघ कृष्ण पक्ष की अष्टमी को सीता का हरण हुआ था'**, तदनुसार दसवाँ मास **मार्गशीर्ष** हुआ और विजया दशमी मनाया जाने वाला **'आश्विन मास तो आठवाँ मास है,'** तो इस प्रकार इन पुराणादि के तथा रामायण के प्रमाणों से सिद्ध हो गया कि **'आश्विन मास की विजयादशमी तक तो सीता जी का पता ही नहीं चला था।'** वर्षा ऋतु के पश्चात् ही सीता जी की खोज प्रारम्भ हुई, तथा उनकी प्राप्ति की सूचना हनुमान ने **'मार्गशीर्ष मास के कृष्ण पक्ष की सप्तमी को श्रीराम को दी।'** यथा—

मार्गशीर्षप्रतिपदः पञ्चभिः पथिवासरैः।
पुनरागत्य वर्षेऽह्नि ध्वस्तं मधुरमं किल॥
सप्तम्यां प्रत्यभिज्ञानं दानं सर्वनिवेदनम्॥

स्क०पु०ब्रह्म० ३०।४०,४१॥ पद्मपु० पा० ३६।३२,३३,३४॥

अर्थात् मार्गशीर्ष कृष्ण पक्ष की प्रतिपदा को वहाँ से चलकर ५ दिन मार्ग में लगाते हुये षष्ठी को मधुवन में पहुँचे और मार्गशीर्ष कृष्ण पक्ष की सप्तमी को सारा निवेदित किया।

पुराणों के प्रमाणानुसार श्रीराम ने मार्गशीर्ष मास के अनन्तर अपनी युद्ध सज्जा के साथ सीता जी की प्राप्ति का उपाय किया है, और लंकाधिपति रावण के साथ माघ शुक्ल द्वितीया को युद्ध प्रारम्भ हुआ—

माघशुक्लद्वितीयायां दिनैः सप्तभिरष्टमीम्।
प्राप्तो युद्धाय द्वादश्यां यावत्कृष्णां चतुर्दशीम्॥
अष्टादशदिने रामो रावणं द्वैरथैरवधीत।

स्क० पु० ३६।५४,७७॥

अर्थात् माघ शुक्ल द्वितीया में युद्ध प्रारम्भ हुआ, सप्तमी, अष्टमी को घोर युद्ध हुआ तथा **द्वादशी से चैत्र कृष्ण चतुर्दशी तक राम और रावण का १८ दिन युद्ध हुआ**[१], **और चतुर्दशी में रावण को श्रीराम ने मार गिराया।**

एवंविध इन सब प्रमाणों से सुस्पष्ट है कि **रावणवध आश्विन मास की विजयादशमी को नहीं हुआ था**[२]। आज हम यह ज्ञात होने पर भी सत्य का अन्वेषण नहीं करते, केवल झाँझ मंजीरों की झंकार में भव्याभिनय एवं रम्य- रामलीला में अपने आप को इतना पूर्ण पाते हैं, कि वाल्मीकि रामायण तथा रामचरित मानस को पढ़ने तक की कोशिश नहीं करते। पढ़ने की बात तो जानें दें, रामचरित मानस की कथा सुनते समय ध्यान से सुनने का कष्ट भी नहीं करते, इन बाह्य आडम्बरों के आगे।

हमें चाहिये कि जिन ग्रन्थों को हम अपनी थाती समझते हैं, आदर्श इतिहास मानते हैं, उनका उज्ज्वल स्वरूप समाज में प्रस्तुत करें और जो झूठे इतिहास की कल्पना कर समाज को गुमराह कर रहे हैं, उन्हें सही दिशा देकर राम की विजय का उत्सव '**चैत्र कृष्णा चतुर्दशी को मनावें और मनवावें।**' यह हठ और दुराग्रह की बात नहीं है; इतिहास के पन्नों का तथ्य है।[३]

१. पुराणों के अनुसार माघ शुक्ल द्वितीया से चैत्र कृष्ण चतुर्दशी तक ८७ दिन युद्ध चला, इनमें १५ दिन युद्ध बन्द रहा, ७२ दिन युद्ध हुआ। इन ७२ दिनों में राम के साथ १८ दिन युद्ध हुआ तथा सीता जी रावण की कैद में १४ मास १० दिन तक रहीं। स्कन्द पुराण, ब्रह्म. अ.३६॥

२. इसका सविस्तर वर्णन पूज्यपाद अमरस्वामी जी महाराज द्वारा लिखित '**क्या रावणवध विजयादशमी को हुआ था**' पुस्तक में तथा स्कन्द पुराण ब्रह्मखण्ड अध्याय ३६ में और पद्मपुराण खण्ड ३६ द्रष्टव्य है।

३. सायङ्कालीन दैनिक पत्र '**गाण्डीव**' के '**विजय दशमी पूजा परिशिष्ट**' में २ अक्टूबर १९८७, पृ० ५ पर प्रकाशित।

'प्रणवष्टेः' सूत्र से अन्त में प्रणव=ओ३म् का विधान कहाँ?

यज्ञ, होम आदि कर्मकाण्ड विषय में ब्राह्मण तथा श्रौत आदि ग्रन्थ प्रमाणभूत हैं, यथाहि महर्षि दयानन्द ने ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका के **'प्रतिज्ञा विषय'** में लिखा है—

कर्मकाण्डानुष्ठानस्यैतरेयशतपथब्राह्मणपूर्वमीमांसाश्रौत-सूत्रादिषु यथार्थं विनियोजितत्वात्।

अर्थात् कर्मकाण्ड के अनुष्ठान का ऐतरेय, शतपथ ब्राह्मण, पूर्वमीमांसा और श्रौतसूत्र आदि में यथा प्रयोजन विनियोग कहे जाने से।

तात्पर्य हुआ जिन कर्मकाण्ड विधियों का वेदों में संकेत है, उनकी विस्तृत विधि चारों वेदों के श्रौतादि ग्रन्थों में उपलब्ध होती है। उन विधियों को हम सुचारु रूप से विहित कर सकें, इसका श्रौतादि ग्रन्थों में बहुत ही सुस्पष्ट रीति से प्रतिपादन किया गया है। उन विधियों के मूल वेद मन्त्र हैं अर्थात् वे विधियाँ वेद मन्त्रों से युक्त हैं।

उन विधियों में प्रयुक्त होने वाले या स्वतन्त्र रूप से प्रयुक्त होने वाले वेद मन्त्रों के उच्चारण के लिये यजुः प्रातिशाख्य में कहा गया—

ओंकारं वेदेषु॥

यजु० प्राति० १।१८॥

अर्थात् वेदों के प्रारम्भ में **ओंकार = ओ३म्** यह शब्द उच्चारण करना चाहिये। यजुः प्रातिशाख्य का वेदोच्चारण में यह सामान्य नियम हुआ, कि जब भी वेदमन्त्रों का उच्चारण होगा, उससे पूर्व **'ओ३म्'** इस शब्द का उच्चारण होना चाहिये।

यजुर्वेद के ४०वें अध्याय में भी **'ओ३म् क्रतो स्मर'** यजु०४०।१५,

कहकर, क्रतु = कर्मशील, बुद्धिमान् को **क्रतुः कर्मनाम, प्रज्ञानाम,** निघ० २।१, ३।९), ओ३म् का स्मरण करने के लिये आदेश परमात्मा ने दिया है, तो वह स्मरण अहर्निश किया जाना चाहिये।

पर यागों की अपनी कुछ विशिष्ट विधियाँ हैं वे तत्-तत् स्थानों में ही भली भाँति देखने से ज्ञात हो पाती हैं। श्रौतादि ग्रन्थों में कुछ विशिष्ट विधियों में **मन्त्रों के अन्त में प्लुत ओकार उच्चारण करने का विधान है जिसकी 'प्रणव' संज्ञा की गयी है।** एतद् विषयक **शाङ्खायन श्रौत सूत्र का प्रथम अध्याय द्रष्टव्य है—**

उत्तमस्य च छन्दोमानस्योर्ध्वमादिव्यञ्जनात् स्थाने ओकारः प्लुतस्त्रिमात्रः शुद्धः॥

शाङ्खा० श्रौ०सू० १।१।१९॥

अर्थात् छन्द परिमाण के **उत्तमस्य** = क्रुष्ट स्वर के, **ऊर्ध्वम्** = पहले, **आदिव्यञ्जनात्**= व्यञ्जन सहित टि के स्थान में, **त्रिमात्रः शुद्धः** = त्रिमात्रिक शुद्ध, **प्लुतः ओकारः** = प्लुत ओकार होता है।

यह सूत्र त्रिमात्रिक टि को ओकार विधान कर रहा है।

मकारान्तो वा॥

शाङ्खा० श्रौ०सू० १।१।२०॥

अर्थात् वह टि को किया गया ओकार मकारान्त होता है।

तं प्रणव इत्याचक्षते॥

शाङ्खा० श्रौ० सू० १।१।२१॥

अर्थात् उस मकारान्त ओकार को **'प्रणव'** कहा जाता है।

अवसाने मकारान्तं सर्वेष्वृग्गणेषु स पुरोऽनुवाक्येषु॥

शाङ्खा० श्रौ० सू० १।१।२२॥

अर्थात् **सः** = वह, **मकारान्तम्** = मकारान्त प्रणव, **सर्वेषु ऋग्गणेषु** = सभी ऋक्समूह, **पुरोनुवाक्येषु** = पुरोऽनुवाक्यों के, **अवसाने** = अवसान में होता है।

तेनार्धर्चमुत्तरस्याः सन्धायावस्यति पादं वा तत् सन्ततमित्याचक्षते।

शाङ्खा० श्रौ०सू० १।१।२३॥

अर्थात् तेन = उस मकारान्त प्रणव के द्वारा पूर्व की आधी ऋचा को, उत्तरवाली ऋचा से जोड़ता है या पूर्वपाद को उत्तरपाद से जोड़ता है, वह सन्तत कहलाता है।

शाङ्खायन श्रौतसूत्र के २२वें और २३वें इन दो सूत्रों ने वहुत ही स्पष्ट कर दिया कि वह **मकारान्त प्रणव** = ओ३म् अन्त में कहाँ लगाना चाहिये और कहाँ नहीं।

२२वें सूत्र में **'पुरोऽनुवाक्या'** शब्द आया है, पुरः = **पूर्वं यागात् देवतामनुकूलयितुं या ऋक् उच्यते सा पुरोऽनुवाक्या''** अर्थात् पुरोऽनुवाक्या उस ऋचा को कहा जाता है जो **याग** = आहुति देने से पूर्व याग के देवता स्तुत्यर्थ बोली जाती है, जिससे आहुति नहीं दी जाती, केवल पाठ मात्र होता है। विषय की स्पष्टता के लिये पौर्णमासेष्टि याग में विनियुक्त प्रधान याग के मन्त्र द्रष्टव्य हैं—

ये३यजामहे–अग्निं भुवो यज्ञस्य रजसश्च नेता यत्रानियुद्भिः सचसे शिवाभिः। दिवि मूर्द्धानं दधिषे स्वर्षां जिह्वामग्ने चकृषे हव्यवाहं ३वौ३षट्।

ऋ० १०।८।६॥

इस मन्त्र से आहुति प्रदान की जाती है। इस मन्त्र से पूर्व होता **'पुरोऽनुवाक्या'** का पाठ करता है, जिसके अन्त में वह **'ओ३म्'** का उच्चारण करता है यथा—

ओ३म् अग्निर्मूर्द्धा दिवः ककुत् पतिः पृथिव्या अयम्।
अपां रेतांसि जिन्वतो३म्॥

ऋ.० ८।४४।१६॥

इसी प्रकार स्विष्टकृत् याग में—

येऽयजामहेऽग्निं स्विष्टकृतमयाऽग्निरग्नेः प्रिया धामान्ययाट्सोमस्य प्रिया धामान्ययाऽग्नेः प्रिया धामान्ययाट् ....। प्रति न ईं सुरभीणि व्यन्तु ३ वौ३षट्॥

का०हौ०पा० १।४॥, दर्शपौ० प० ९०॥

इस उपर्युक्त मन्त्र से आहुति देने से पूर्व—

ओ३म् प्रेद्धो अग्ने दीदिहि पुरो नोऽजस्त्रया सूर्म्या यविष्ठ।
त्वां शश्वन्त उपयन्ति वाजो३म्।

ऋ० ७।१।३॥

इस पुरोऽनुवाक्या का पाठ होता है, जिसमें होता अन्त में '**ओ३म्**' लगाता है। इन उद्धरणों से स्पष्ट हुआ कि **पुरोऽनुवाक्या** के अन्त में ही '**ओ३म्**' लगता है, सर्वत्र नहीं।

याज्या[१] = जिन मन्त्रों से आहुति प्रदान की जाती है उन ऋचाओं के अन्त में '**ओ३म्**' का उच्चारण नहीं होता, जो **पुरोऽनुवाक्या** = आहुति से पूर्व पठनीय ऋचायें हैं, जिनसे आहुति नहीं दी जाती है, अध्वर्यु के प्रैष के बाद जिन्हें होता या मित्रावरुण बोलते हैं उनके अन्त में ही '**ओ३म्**' का उच्चारण होता है।

द्र० कातियेष्टिदीपिका, दर्शपौर्णमासपद्धति - प्रधान होम।

आचार्य पाणिनि ने भी इस विधि का ही स्पष्टीकरण '**प्रणवष्टेः**' पा०८।२।८९, सूत्र में किया है। ऊपर वाले '**ये यज्ञकर्मणि**' पा० ८।२।८८, सूत्र से '**यज्ञकर्मणि**' की अनुवृत्ति आती है, जिसका अर्थ हुआ—यज्ञ कर्म में वाक्य के अन्तिम पद की टि को '**प्रणव**' आदेश होता है और वह प्लुत उदात्त होता है।

और अगला सूत्र '**याज्यान्तः**', पा० ८।२।९०, सूत्र याज्या मन्त्रों की टि को प्लुत करता है। अब यहाँ ध्यातव्य यह है कि यह सूत्र याज्या मन्त्रों में '**प्रणव**' आदेश नहीं कर रहा है, अपितु प्लुत कर रहा है, यदि सर्वत्र ही प्रणव आदेश होता, तो सूत्र में '**याज्या**' शब्द कहने की अथवा पृथक् सूत्र बनाने की कोई भी आवश्यकता नहीं थी, **प्रणवष्टेः** से ही कार्य चल जाता, अतः '**प्रणवष्टेः सूत्र की व्याख्या में पुरोऽनुवाक्या शब्द का विशिष्ट अर्थ समझना चाहिये,**' क्योंकि याज्या और पुरोऽनुवाक्या का अन्योन्याश्रित

---

१. आगूः पूर्विका (ये यजामहे इति तिङन्तं रेफान्तेन आगूः शब्देन उच्यते) वषट्कारान्ता प्रायशोऽर्धर्चावसाना बहुस्थानेषु एकैव ऋक् क्वचिदनृगपि याज्यापदेन उच्यते॥

सम्बन्ध है। तो इस प्रकार '**प्रणवष्टेः**' सूत्र पुरोऽनुवाक्या मन्त्रों में '**प्रणव**' आदेश करेगा अन्यत्र नहीं। यहाँ जिसे सीधे शब्दों में यह कह सकते हैं कि जिनसे आहुति नहीं दी जाती, उन मन्त्रों में ही 'टि' को प्रणव आदेश होता है।

अतः हमें समझना चाहिये कि पाणिनि का '**प्रणवष्टेः**' सूत्र श्रौतविधियों का ही अनुवादक है, समर्थक है, कोई नया विधायक नहीं।

यहाँ पर यह भी समझ लेना चाहिये कि याज्या और पुरोऽनुवाक्या कहाँ होते हैं—

तिष्ठद्धोमा वषट्कारप्रदाना याज्या पुरोऽनुवाक्यावन्तो यजतयः॥

का०श्रौ०सू० १।२।६॥

अर्थात् जिनमें खड़े होकर **वषट् = वौषट्** शब्द से आहुति दी जाये, जिनमें पुरोऽनुवाक्या और याज्या मन्त्र होते हैं, उन्हें याग कहा जाता है। तात्पर्य हुआ, जिन यागों में **स्वाहा के स्थान पर 'वौषट्'** का प्रयोग होता है वहाँ याज्या और पुरोऽनुवाक्या वाली ऋचाओं का विधान है।

उपविष्टहोमाः स्वाहाकारप्रदाना जुहोतयः॥

का०श्रौ०सू० १।२।७॥

अर्थात् जिनमें बैठकर '**स्वाहा**' शब्द से आहुति दी जाय वह होम होता है यानी स्वाहाकार वाले होमों में याज्या और पुरोऽनुवाक्या नहीं होते।

हम जिन यज्ञों या पारायणों को करते हैं उनमें **स्वाहा** शब्द का प्रयोग होता है '**पुरोऽनुवाक्या और याज्या**' वाले यागों के समान वौषट् शब्द का प्रयोग नहीं करते, क्योंकि उन्हें बैठकर करते हैं, अतः वौषट् भिन्न होम में, यज्ञ में, मन्त्रों के अन्त में '**ओ३म्**' का उच्चारण करके आहुति प्रदान करना कर्मकाण्डीय शास्त्रों के विरुद्ध है वहाँ तो केवल '**स्वाहा**' शब्द का ही उच्चारण करना चाहिये, '**ओ३म् सहित**' स्वाहा का नहीं, तथाहि—

स्वाहाकारोऽन्ते होममन्त्राणाम्॥

शाङ्खा० श्रौ०सू० १।२।२२॥

अर्थात् होम मन्त्रों के अन्त में स्वाहाकार करना चाहिये।

शाङ्खायान श्रौत सूत्र के १।१।२३ वें सूत्र में आया '**सन्तत**' शब्द भी विशिष्ट मन्त्रों के अन्त में '**ओ३म् उच्चारण का ही संकेतक है।**' यहाँ पहले हम '**सन्तत**' शब्द को ही समझें। सन्तत शब्द को स्पष्ट करते हुये आश्वलायन श्रौत सूत्र में लिखा—

स्वरादिमृगन्तमोकारं त्रिमात्रं मकारान्तं कृत्वोत्तरस्या अर्धर्चेऽवस्येत्। तत् सन्ततम्॥

आश्व. श्रौ०सू० १।२।१०॥

अर्थात् जो **स्वरादि** = व्यञ्जन से पूर्व स्वर हो अथवा केवल स्वर हो, तो अन्त में उसको त्रिमात्रिक ओकार करके, उस ओकार से दूसरी आधी ऋचा को जोड़ा जाता है, यही सन्तत है, यथा—

सामिधेनी मन्त्रों में ८वाँ मन्त्र—

ओ३म् अग्निं दूतं वृणीमहे होतारं विश्ववेदसम्।
अस्य यज्ञस्य सुक्रतो३म्॥

ऋ०१।१२।१, है।

इस मन्त्र का अन्तिम चरण अग्रिम सामिधेनी ९वीं ऋचा- **समिध्यमानोऽध्वरे...** ऋ०३।२७।४, से जोड़ दिया, जोड़ने पर मध्य में '**ओ३म्**' आ गया या पूरी-पूरी ऋचाओं को एक-दूसरे से जोड़ते हैं जिनके अन्त में '**ओ३म्**' है, यथा—

ओ३म् प्र वो वाजा अभिद्यवो हविष्मन्तो घृताच्या।

देवञ्जिगाति सुम्नयो३म्। ऋ.३।२७।१, इसको **ओ३म् अग्न आ याहि..... बर्हिषो३म्।** ऋ० ६।१६।१०। इस द्वितीय सामिधेनी ऋचा से जोड़ते हैं, जिनके मध्य में अन्त में प्रयुक्त हुआ **ओ३म्** आता है। इस प्रकार आश्वलायन श्रौत सूत्रों से स्पष्ट विदित होता है कि सामिधेनी मन्त्रों के अन्त में **प्रणव** = **ओ३म्** का उच्चारण होता है।

कात्यायन श्रौत सूत्र में और भी स्पष्ट कहा है—

प्रतिप्रणवमाधानम्।

का०श्रौ०सू० ३।१।१०॥

अर्थात् होता सामिधेनी ऋचाओं को पढ़ता हुआ प्रत्येक ऋचा के अन्त में **प्रणव बोलता** है, और अध्वर्यु अग्नि में इध्म का आधान करता है।

इस प्रकार श्रौतसूत्र, प्रातिशाख्य आदि ग्रन्थों के आधार पर स्पष्ट हुआ कि यज्ञ, यागों में मन्त्रों के **अन्त में प्रणव = ओ३म्** वहीं लगता है, जहाँ आहुति प्रदान नहीं की जाती है। जिन मन्त्रों से आहुति प्रदान की जाती है, वहाँ **'स्वाहा'** शब्द का ही अन्त में प्रयोग होता है, **'ओ३म्'** सहित स्वाहा का नहीं।

दूसरी बात हम जिन मन्त्रों से सामान्यतः आहुति प्रदान कर रहे हैं उनका **'पुरोऽनुवाक्या'** रूप में प्रयोग नहीं कर रहे और न ही यथाविधि जो ११, १५, १७, २१ आदि सामिधेनी मन्त्र हैं उनके अन्तर्गत समझ रहे हैं, उन मन्त्रों को तो उन मन्त्रों के पूर्वोक्त प्रकरणों से भिन्न होने से उनके अन्त में **'ओ३म्'** बोलकर स्वाहा से आहुति प्रदान करना नितान्त अज्ञता का द्योतक है, विधानों के विपरीत है, यह समझ लेना चाहिये।

"स्वाहा" का विधान वेदों में

आजकल मन्त्र के अन्त में ओ३म् बोलकर आहुति प्रदान करने-कराने का प्रचलन हुआ है, पर मन्त्र के अन्त में ओ३म् बोलकर आहुति देना सर्वथा वेद विरुद्ध है। इस विषय में ऋग्वेद के १० वें मण्डल का १२२वाँ सूक्त द्रष्टव्य है, वहाँ ११वें मन्त्र में कहा-

स्वाहाकृतं हविरदन्तु देवाः।

ऋ० १०। ११०। ११॥

अर्थात् विद्वान् लोग स्वाहाकार पूर्वक हवि को खिलावें।

महर्षि यास्क ने इस मन्त्र की व्याख्या करते हुए **"अदन्तु"** को स्पष्ट किया- **'इति यजन्ति'**, निरु० ३। ५। २०।। अर्थात् यज्ञ करते हैं, आहुति देते हैं।

इस वेद के मन्त्र से भलीभाँति सुस्पष्ट है कि मन्त्र के अन्त में **"स्वाहा"** उच्चारण करके ही आहुति देनी चाहिए, **"ओ३म् स्वाहा"** से नहीं, अन्यथा मन्त्र में **"ओ३म् स्वाहाकृतम्"** ऐसा मन्त्र पाठ होता।

यही तथ्य दूसरे मन्त्र से भी स्पष्ट है -

स्वाहाकृतेन हविषा पुरोगा याहि साध्या हविरदन्तु देवाः।

यजु० २९। ११।।

अर्थात् स्वाहाकार पूर्वक होमयोग्य हवि से विद्वान्, साध्य, यज्ञ के मुखिया जन यज्ञ को प्राप्त होवें, और हवि को खिलावें, अर्थात् यज्ञ में आहुति डालें।

---

१. अन्तरराष्ट्रीय आर्य महासम्मेलन मुम्बई के २३ मार्च से २६ मार्च २००१ तक होने वाले यज्ञ में श्रद्धेय "स्वामी सत्यम् जी" द्वारा "ओ३म् स्वाहा" बोलकर आहुति देने की पद्धति देखने को मिली।

यहाँ पर भी "**स्वाहाकृतेन**" शब्द के साथ "**ओ३म्**" शब्द नहीं लगाया गया। इस प्रकार स्पष्ट हुआ कि परमात्मा ने इन मन्त्रों के द्वारा "**स्वाहा**" उच्चारण पूर्वक हवि=आहुति प्रदान करने का आदेश दिया है, अतः मात्र "**स्वाहा**" बोलकर ही आहुति देनी चाहिए। यह परमात्मा का आदेश है, मनुष्य का नहीं। एवंविध इस विषय में वेद प्रमाणों के रहते किसी प्रमाण, युक्ति या तर्क की आवश्यकता नहीं।

"**प्रणवष्टेः**" पा० ८।२।८९, सूत्र में पुरोऽनुवाक्या का सम्बन्ध लगाना अनुचित नहीं है। अष्टाध्यायी में बहुत से ऐसे सूत्र हैं, जहाँ पाणिनि ने पूर्वसूत्र में विशेष नहीं कहा, पर उत्तर वाले सूत्र में कुछ अन्य कहा है, उस उत्तर सूत्र के तत्सदृश विशिष्टार्थ वाले शब्दों को जोड़कर पूर्व सूत्र का अर्थ किया जाता है, यथा–

यासुट् परस्मैपदेषूदात्तो ङिच्च पा० ३।४।१०३।। इस सूत्र से परस्मैपद में **यासुट्** का विधान किया है। इससे पूर्व वाले सूत्र "**लिङः सीयुट्**" पा० ३।४।१०२ से सीयुट् का विधान किया है। पर वह **सीयुट्** कहाँ होवे, इसका निर्देश नहीं किया गया है। तथापि इस सूत्र का अर्थ करते समय "**आत्मनेपद**" का ग्रहण होता है, क्योंकि परस्मैपद और आत्मनेपद दोनों अन्योऽन्याश्रित सम्बन्ध वाले शब्द हैं। जैसा कि महर्षि दयानन्द ने भी– "**परसूत्रे परस्मैपदे यासुटा बाधितत्वात् इह आत्मनेपदम् आयाति**" ऐसा लिखा है।

इस प्रकार बहुत से उदाहरण हैं जहाँ पाणिनि ने अपना अभिहितार्थ स्पष्ट नहीं किया है, लेकिन पूर्वापर का विचार करके अभीष्टार्थ का सम्बन्ध लगाया जाता है।

एवंविध महर्षि दयानन्द ने "**प्रणवष्टेः**" सूत्र के अर्थ में भले ही पुरोऽनुवाक्या शब्द नहीं जोड़ा है पर पुरोऽनुवाक्या का उदाहरण दिया है, अतः पुरोऽनुवाक्या का सम्बन्ध लगाना चाहिए।

"**प्रणवष्टेः**" सूत्र में पुरोऽनुवाक्या मन्त्रों के साथ-२ सामिधेनी मन्त्रों का भी ग्रहण होता है, इस बात की पुष्टि महर्षि दयानन्द ने जो इस सूत्र के उदाहरण में "**आदि**" शब्द लगाया है, उससे होती है, यथा–

"सन्धिविषय" पुस्तक के संज्ञा प्रकरण में **प्रणवष्टेः** पा० ८। २। ८९, सूत्र का उदाहरण महर्षि ने **"अपां रेतांसि जिन्वतो३म्, इत्यादि"** दिया है जो पौर्णमासेष्टि याग में प्रधान याग की पुरोऽनुवाक्या में विनियुक्त है, और पुरोऽनुवाक्या मन्त्र से आहुति दी नहीं जाती। अतः महर्षि के उदाहरण से ज्ञात हुआ कि जिनसे आहुति नहीं दी जाती, वहाँ **ओ३म्** लगता है, तथा जिन मन्त्रों से आहुति दी जाती है, उनके अन्त में **ओ३म्** नहीं लगता।

और महर्षि के उदाहरण में **"आदि"** शब्द से क्या तात्पर्य है, यह आगे देखें-

छन्दोभिः सामिधेनीर्याज्याभिर्वषट्कारान्।।

यजु० १९। २०॥

अर्थात् छन्द पूर्वक सामिधेनियों का आधान होता है, तथा याज्या से वषट्कार किया जाता है।

इस वेदमन्त्र से स्पष्ट हुआ कि सामिधेनियों का आधान **'छन्दोभिः' अर्थात् प्रणव सहित होता है।** छन्द प्रणव को कहते हैं-

ब्रह्म वै छन्दांसि।।

तै०सं० २। ४। ९। ४।।

ब्रह्म वै प्रणवः।।

कौषी० ११। ४।।, गोपथ २। ३। ११।।

अर्थात् छन्द ब्रह्म है, और ब्रह्म ही प्रणव है।

और मन्त्र से यह भी स्पष्ट हुआ कि याज्या मन्त्रों से वषट्कार - वौषट् करते हैं।

इस प्रकार इस वेदमन्त्र से सिद्ध हुआ कि **"प्रणवष्टेः"** सूत्र के उदाहरण में जो महर्षि ने **"आदि"** शब्द लगाया है, उससे सामिधेनी का भी ग्रहण होगा, क्योंकि **"सन्तता याज्या पुरोऽनुवाक्या भवति"**।

शत०ब्रा० १२।८।२।१८।।

अर्थात् **"सन्तत"** वाले याज्या पुरोऽनुवाक्या होते हैं, और इधर सामिधेनी मन्त्र भी सन्तत वाले हैं, अतः सन्तत साधर्म्य से पुरोऽनुवाक्या के साथ सूत्र में सामिधेनी का भी ग्रहण होगा।

इस प्रकार महर्षि के उदाहरण से स्पष्ट होता है कि **ओ३म्** अन्त में वहीं लगता है जहाँ आहुति प्रदान नहीं की जाती। वे स्थल हैं **"पुरोऽनुवाक्या तथा सामिधेनी मन्त्र।"** महर्षि के इस उदाहरण को चाहे विधान समझें, चाहे आदेश, तात्पर्य वही निकलता है, जो यहाँ प्रतिपादित है। यदि इस सूत्र से सर्वत्र ही प्रणव होता, तो महर्षि वेद के प्रारम्भ से, मध्य से, या कहीं से मन्त्रों का उदाहरण देते, विशेष रूप से **"पुरोऽनुवाक्या"** वाले मन्त्रों को ही क्यों खोजने जाते।

महर्षि ने **प्रतिज्ञाविषय** में लिखा है-

तस्मात् युक्तिसिद्धो वेदादिप्रमाणानुकूलो मन्त्रार्थानुसृतः

तदुक्तोऽपि विनियोगो ग्रहीतुं योग्योऽस्ति।

ऋग्वेदादि भा० भू०पृ० ३७१।।

अर्थात् युक्तिसिद्ध, वेदादिप्रमाणानुकूल मन्त्रार्थानुसारी विनियोग ही ग्रहण करने योग्य है। तदनु वेदादिप्रमाणानुकूल होने से **"पुरोऽनुवाक्या तथा सामिधेनी"** मन्त्रों के अन्त में ओ३म् बोलने का विधान मान्य जानना चाहिए।

ओ३म् आपो ज्योतीरसो३मृतं ब्रह्म भूर्भुवः स्वरो३म् स्वाहा।।

दैनिक यज्ञ, तै०आ० १०।१५।, १०।२८॥

त्वं तदाप आपो ज्योतीरसोऽमृतं ब्रह्म भूर्भुवः स्वरो३म् स्वाहा।।

संन्यास प्रकरण

ओ३म् भूः। ओ३म् भुवः। ओ३म् स्वः।।

तै०आ० १०।२७।।

इन मन्त्रों के अन्त में ओ३म् देखकर यह सन्देह नहीं रखना चाहिए कि यहाँ महर्षि के द्वारा अन्त में ओ३म् लगाया गया है, अतः मन्त्र के अन्त में ओ३म् लगाया जा सकता है, क्योंकि ये मन्त्र **ओ३म्** अन्त वाली **आनुपूर्वी से ही तैत्तिरीय आरण्यक में पठित हैं।** कर्मकाण्डवित् महर्षि दयानन्द ने इन मन्त्रों में मात्र स्वाहा शब्द ही जोड़ा है।

काशी शास्त्रार्थ–अपराजित दयानन्द

सच यह है !

गत १ मई २००३ को ४ पृष्ठीय दैनिक पत्र **'हिन्दुस्तान सुबह-ए-बनारस'** में पृ० १ पर **'विस्मृति के गर्भ में'** स्तम्भ के अन्तर्गत **'दयानन्द विशुद्धानन्द शास्त्रार्थ-विलुप्त परम्परा का जीवन्त अध्याय'** शीर्षक से डा० अशोक कुमार सिंह ने १३४ वर्ष पूर्व के शास्त्रार्थ विषयक इतिवृत्त को प्रस्तुत किया है। जो विष वमन के अतिरिक्त कुछ नहीं है। मात्र दयानन्द सरस्वती को पराजित सिद्ध करना ही लेखक के सम्पूर्ण कथन का सार है, जो अत्यन्त गर्ह्य है। साथ ही जो दयानन्द सरस्वती के नाम से अन्य व्यक्ति का चित्र देकर उपहास करना चाहा है वह भी कम निन्दनीय नहीं है। **लेखक को विदित हो ! दयानन्द को पराजित करना न तब सम्भव था, न अब।** आपके ये प्रयास सदा असफल रहेंगे। अब देखें कि सच क्या है-

१९वीं शताब्दी का वह काल था, जिस समय जन साधारण वेद की आज्ञाओं से बहुत दूर हो चुका था। सभी एक ईश्वर की उपासना को छोड़ नाना काल्पनिक देवी-देवताओं, भगवानों के अर्चन-पूजन, नैवेद्य चढ़ाने आदि में लगे हुये थे। काशी, मथुरा, गंगा स्नान आदि तीर्थों व कार्यों को ही निःश्रेयस् का ठिकाना जान रहे थे। मूर्तिपूजा, ग्रहपूजा, जन्मना वर्ण व्यवस्था, सती प्रथा, मृतक श्राद्ध, अवतारवाद आदि मनघढ़न्त मन्तव्यों को वेद के द्वारा सिद्ध कर रहे थे। अपने-अपने स्वार्थों से उत्पन्न सम्प्रदायों के पोषण में वेद मन्त्रों को प्रस्तुत करते थे। पशु बलि, मांसाहार आदि कर्मों में वेदों की दुहाई देते थे। स्त्रियों को वेद के पठन-पाठन से वञ्चित कर चुके थे। विधवा विवाह जघन्य अपराध समझते थे और वेद शब्द से ब्राह्मण, उपनिषद्, आरण्यक, मीमांसा, षडङ्ग तथा पुराणों का ग्रहण मान रहे थे।

ऐसे समय में नवजागरण के पुरोधा जगद्गुरु, वेदज्ञ महर्षि दयानन्द ही प्रथम पुरुष थे, जिन्होंने वेदों के प्रमाण उद्धृत करते हुये सभी अवैदिक मान्यताओं को वेदविरुद्ध सिद्ध किया एवं सत्यान्वेषण के लिए जन-जन को चेताया।

न तस्य प्रतिमा अस्ति०।

यजु० ३२।३।।

अर्थात् उसकी कोई प्रतिमा नहीं है।

स एष एक एकवृदेक एव।

अथर्व० १३।५।२०।।

अर्थात् वह यह एक ही है।

आदि मन्त्रों द्वारा सम्पूर्ण देश में मूर्तिपूजा का खण्डन किया तथा सर्वत्र व्यापक, निराकार अनेक गुणकर्मानुसार अनेक नामा **'ओ३म्' पद वाच्य ब्रह्म की उपासना का वेदोक्त सिद्धान्त स्थापित किया।** अपने इस वैदिक सिद्धान्त की स्थापना करते हुये काशी के पण्डितों को ७ बार ललकारा।

मूर्तिपूजा वेद विरुद्ध है इस विषय पर महर्षि दयानन्द का शास्त्रार्थ काशी के पण्डितों से कार्तिक शुक्ला १२, वि० सं० १६२६ मंगलवार (१६ नवम्बर, सन् १८६६) को आनन्द बाग दुर्गा कुण्ड में हुआ।

इस शास्त्रार्थ में मूर्तिपूजा के समर्थक ताराचरण तर्करत्न, विशुद्धानन्द स्वामी, दाक्षिणात्य पं० बाल शास्त्री, पं० शिव सहाय शास्त्री, माधवाचार्य आदि ४० पौराणिक विद्वान् तथा काशी नरेश ईश्वरी प्रसाद नारायण सिंह एवं उनके परिवार के भ्राता, पुत्र आदि तथा बाबू भारतेन्दु हरिश्चन्द्र गुप्त ११ प्रतिष्ठित व्यक्ति विद्यमान थे।

दालान में उपर्युक्त ५१ व्यक्तियों के समक्ष मूर्ति पूजा, अवतारवाद आदि अवैदिक मान्यताओं के निर्भीक आलोचक महर्षि स्वामी दयानन्द सरस्वती थे। इसके अतिरिक्त दालान में कोतवाल रघुनाथ प्रसाद भी थे। दालान से वाहर ३ सौ व्यक्ति थे और बाहर मैदान में अनुमानतः ६० हजार लोगों की उमड़ी भीड़ थी।

उस शास्त्रार्थ में महर्षि दयानन्द सरस्वती जी ने पण्डितों से निम्नलिखित प्रश्न पूछे-

१. सर्वप्रथम प्रश्नोत्तर ताराचरण से हुये-आप वेदों का प्रमाण मानते हैं या नहीं ?

२. वेद में पाषाणादि मूर्तियों के पूजन का जहाँ प्रमाण है वह दिखाइये, यदि नहीं है, तो कहिए कि नहीं है।

प्रथम प्रश्न के उत्तर में ताराचरण मात्र यही कह सके कि 'वर्णाश्रम में जो स्थित हैं उन्हें वेदों का प्रमाण है'। द्वितीय प्रश्न का ताराचरण कुछ भी उत्तर न दे सके।

३. तृतीय प्रश्न महर्षि दयानन्द ने विशुद्धानन्द स्वामी से किया-धर्म का क्या स्वरूप है ?

प्रश्नोत्तर में विशुद्धानन्द सप्रमाण धर्म के स्वरूप को नहीं बता सके और अपनी ओर से मीमांसा दर्शन के 'चोदना लक्षणोऽर्थो धर्मः' १।१।२ सूत्र को प्रति प्रश्न के रूप में उपस्थित कर के भी इस सूत्र का अर्थ करने में असमर्थ रहे।

४. महर्षि दयानन्द सरस्वती ने पुनः उनसे प्रश्न किया-धर्म के कितने लक्षण हैं ?

इस प्रश्न के उत्तर में भी विशुद्धानन्द मात्र यही कह सके कि धर्म का एक लक्षण है। महर्षि द्वारा वह कौन सा धर्म है, यह पूछे जाने पर विशुद्धानन्द निरुत्तर रहे।

५. ततः महर्षि दयानन्द ने उन पौराणिक पण्डितों से 'कल्म' संज्ञा किसकी है यह प्रश्न किया।

इस प्रश्न का उत्तर भी बाल शास्त्री, विशुद्धानन्द आदि से न बन सका। इस प्रकार महर्षि के पूर्वोक्त प्रश्नों का मूर्तिपूजा समर्थक पौराणिक पण्डित समाधान तो न कर सके, किन्तु उत्तर रूप में **'आम्रान् पृष्टः कोविदारान् आचष्टे'** अर्थात् पूछे आम बताये कचनार, के सदृश क्या मनुस्मृति आदि भी वेद मूलक हैं, **रचनानुपपत्तेश्च नानुमानम्** वेदा० द० २।१।१ इस वेदान्त सूत्र का क्या मूल है, आदि असम्बद्ध प्रश्नों के शब्दजाल में ही झूलते रहे और महर्षि के **'मूर्तिपूजा वेद विरुद्ध है'** इस प्रश्नोत्तर से भागते रहे।

पर महर्षि दयानन्द पौराणिक पण्डितों द्वारा किये गये सभी प्रश्नों का उत्तर भली-भाँति देते रहे। **'प्रतिमा'** शब्द वेद में है वा नहीं, इसके उत्तर में महर्षि ने जिस सामवेदीय ब्राह्मण ग्रन्थ में वह शब्द है उसका ठिकाना बताते हुये यह सिद्ध कर दिया कि **मूर्तिपूजा वेद विरुद्ध है।**

विशुद्धानन्द स्वामी द्वारा किये गये वेद किससे उत्पन्न हुये हैं, इस प्रश्न का उत्तर भी महर्षि ने बड़ी दृढ़ता के साथ दिया- **कि वेद ईश्वर से उत्पन्न हुये हैं तथा वेद और ईश्वर का कार्य कारण सम्बन्ध है।** जन्य-जनक भाव, समवाय सम्वन्ध, स्व-स्वामि-सम्वन्ध तथा तादात्म्य सम्बन्ध नहीं।

एतादृश ही पण्डितों के **'पुराण'** शब्द वेदों में है या नहीं, इस प्रश्न का उत्तर भी महर्षि ने बड़ी निर्भयता से दिया कि पुराण शब्द वेदों में है और वह **'पुराणशब्दस्तु भूतकालवाच्यस्ति सर्वत्र द्रव्यविशेषणञ्चेति'** पुराण शब्द भूतकाल वाची एवं द्रव्य का विशेषण ही होता है, विशेष्य नहीं।

उपनिषदादि वचनों में महर्षि दयानन्द द्वारा पुराण शब्द के विशेषणवाची सिद्ध कर देने पर अपनी हार होती हुई देख पौराणिक पण्डित विशुद्धानन्द स्वामी ने महर्षि दयानन्द के हाथ में दो पत्रे दिये। उन पत्रों को महर्षि देख ही रहे थे, कि विशुद्धानन्द स्वामी मुझे विलम्ब हो रहा है हम जाते हैं कह कर उठ खड़े हुये, और सभी पण्डित कोलाहल कर, दयानन्द स्वामी हार गये ऐसा कहते हुये भाग चले।

इन उत्तर प्रत्युत्तरों को देखने से स्वयं सिद्ध है कि कौन हारा या कौन जीता। सम्पादक, लेखक, पाठक, पत्रकार विचार करें-कि **महर्षि दयानन्द ने मूर्ति पूजा वेद विरुद्ध है,** जो यह प्रश्न सामने रखा था, क्या कोई पण्डित उसका उत्तर दे सका ? **मात्र जल्प, वितण्डा एवं छल का ही तो प्रदर्शन किया।**

अपनी इस हार को छिपाने के लिए काशीराज के यन्त्रालय से 'दयानन्द पराभूति' तथा 'दुर्जन मुख मर्दन' दो पुस्तकें प्रकाशित की। ततः उस ऐतिहासिक शास्त्रार्थ के लेखक बंगाल के सुप्रसिद्ध विद्वान् पं० सत्यव्रत सामश्रमी ने **'प्रत्नकम्र नन्दिनी'** संस्कृत मासिक पत्रिका में जो शास्त्रार्थ का विवरण प्रकाशित किया, उसका ही सहारा लेकर पं० मथुरा प्रसाद दीक्षित ने सन् १६१६ में इच्छानुसार जो अंश काशी के पण्डितों के विरुद्ध पड़ता था, उन अंशों को छोड़कर काशी शास्त्रार्थ = सच्चा शास्त्रार्थ प्रकाशित किया। जिसमें दयानन्द की पराजय को सिद्ध किया गया है, और शास्त्रार्थ की अध्यक्षता कर रहे राजा ईश्वरी प्रसाद नारायण सिंह की घोषणा के रूप में इन वाक्यों को लिखा गया है- 'पराजितो दयानन्दः, विजेता विशुद्धानन्दः'।

जबकि सत्य कुछ और ही है, पं० सामश्रमी द्वारा प्रकाशित **'प्रत्नकम्र नन्दिनी'** में काशी राज की उद्घोषणा के वाक्य इस प्रकार हैं-

श्रीमन्महाराजस्तु गभीरधीश्चारूचक्षुर्दृष्ट्वाऽद्यन्तं विचारकोलाहलं न हि तृप्तिं जगाम। ततः प्रकाशितवांश्च क्रमादिदं स्वागतम्। अस्तु, दयानन्दो..... परं न एकेन केनचित् कोविदेन पराजेयः सम्भाव्यते। स हि षड्भिः कर्णो निपातित इति न्यायेन ध्वस्तबलो निरस्तः, अपि च न हि तन्निरासेनैव विचारः शेषतां गतः।.......।

अर्थात् गम्भीर बुद्धि और कूटनीतिज्ञ महाराजा शास्त्रार्थ का आदि, अन्त देखकर और कोलाहल पर विचार करके सन्तुष्ट तो न हुये, परन्तु उन्होंने अपना अभिप्राय क्रम से इस प्रकार प्रकट किया-दयानन्द **.....उसे किसी एक विद्वान् के द्वारा पराजित करना सम्भव नहीं है।** कर्ण को ६ योद्धाओं ने गिराया था, इस न्याय से दयानन्द का बल नष्ट कर देने और हटा देने मात्र से विचार समाप्त नहीं हुआ।

लेखक की इन पंक्तियों में **'कोलाहलम्'** तथा **'न पराजेयः सम्भाव्यते'** आये इन शब्दों से स्पष्ट है कि पण्डितों ने कोलाहल किया और दयानन्द को हरा न सके।

हारा हुआ व्यक्ति वह कहा जाता है जो उसका अपना सिद्धान्त है, प्रतिपादन है वह गलत ठहरे। पर यह सभी जानते हैं, चाहे आर्य समाज के जन हों या अन्य, कि महर्षि दयानन्द ने यह सिंह गर्जना की थी कि **मूर्तिपूजा** वेद विरुद्ध है उसका ताराचरण, विशुद्धानन्द आदि कोई भी खण्डन न कर सके, **पुनः कैसे दयानन्द को पराजित घोषित किया जा सकता है।**

पर खेदावह एवं लज्जास्पद बात है कि पक्षपात से युक्त होकर बहुत से लेखक जिन्होंने वेद संहिताओं के विषय की तो बात दूर, उनका आकार-प्रकार भी सम्भवतः नहीं देखा है, वे यदा-कदा पं० मथुरा प्रसाद दीक्षित द्वारा लिखित शास्त्रार्थ के आधार पर ही विभिन्न शीर्षकों से समाचार पत्रों में असत्य से संवलित शास्त्रार्थ का नमूना देते रहते हैं।

कुछ वर्ष पूर्व दैनिक पत्र **'आज' में ६ अगस्त १९९५ को पृ० ८ पर वंशीधर त्रिपाठी** ने ताना-वाना स्तम्भ के अन्तर्गत 'हारे नहीं हराये गये स्वामी दयानन्द' शीर्षक से प्रकाशित किया। सम्प्रति **दैनिक पत्र हिन्दुस्तान सुबह-ए-बनारस** १ **मई २००३ को डॉ० अशोक कुमार सिंह ने काशी** शास्त्रार्थ का नमूना प्रस्तुत किया है। जिसमें उन्होंने यह सिद्ध करने का असफल प्रयास किया है कि दयानन्द हार गये, तथा च लिखा-'दयानन्द जी ने मौन होकर अपनी पराजय स्वीकार कर ली'।

लेखक ने अपने इस असत्य कथन को ढाँपने के लिए एक वाक्य और लिखा-'हो सकता है आर्य समाजियों में इसे दूसरी प्रकार से प्रस्तुत किया जाता हो'। इन असत्यवादियों का एक और छल देखने

योग्य है, जो हिन्दुस्तान में दयानन्द सरस्वती के नाम से चित्र दिया है वह भी उनका नहीं है किसी ढोंगी भङ्गेड़ची व्यक्ति का चित्र उनके नाम से दे दिया है।

लेखक और सम्पादक दोनों को ज्ञात होवे कि कोई कितना ही छल करे, सत्य छिपेगा नहीं। मूर्तिपूजा समर्थक जन दयानन्द से ही नहीं, ईसाई, मुसलमानों से भी सदा पराजित होते रहे हैं, जिसके काशी, मथुरा, अयोध्या गवाह हैं। इन पराजयों का परिणाम स्पष्ट है मन्दिरों के झगड़े देश को लील रहे हैं जनता के प्राण हर रहे हैं।

लेखक ध्यान दें, आर्यसमाज के द्वारा शास्त्रार्थ को दूसरी प्रकार से प्रस्तुत नहीं किया जाता, अपितु जैसा है वही कहा जाता है विषय की पुष्टता के लिए तत्कालीन पत्रों में प्रकाशित अपने पत्रकार भाइयों के उन वक्तव्यों पर दृष्टिपात करें, जिनमें पण्डितों की हार को उजागर किया गया है यथा-

१. वेद से प्रतिमा पूजन-व्यवस्था देकर कोई पण्डित स्वामी दयानन्द जी को न हरा सका इसीलिए स्वामी जी को बड़ा वेदवेत्ता समझना चाहिए।

तत्त्वबोधिनी पत्रिका० ज्येष्ठ, बङ्गाब्द १७९४।

२. 'दयानन्द सरस्वती स्वामी.......। काशी के पण्डितों को उन्होंने जीत लिया और काशी के पण्डितों ने झूठी अपनी जय की धूम मचा दी।

रुहेलखण्ड समाचार, नवम्बर, सन् १८६९।

३. 'शास्त्रार्थ में दोनों ओर से व्यर्थ वितण्डावाद बहुत हुआ और इसमें सन्देह नहीं कि प्रतिमा पूजन वेदों से पण्डित सिद्ध न कर सके।

ज्ञानप्रदायिनी पत्रिका, लाहौर, अप्रैल, सन् १८७०।।

इस प्रकार सत्य का प्रतिपादन करने वाली बहुत सी रिपोर्टें हैं-जिन रिपोर्टों के लेखक आर्यसमाजी नहीं हैं, अपितु समाज के दर्पण पत्रकार हैं।

लेखक देखें कि इन समाचार पत्रों ने दूध का दूध पानी का पानी की भाँति सत्यता को प्रस्तुत किया है, **कि काशी के पण्डित मूर्ति पूजा का विधान वेद से सिद्ध नहीं कर सके।** सिद्ध करना तो दूर रहा, एक टूटा-फूटा प्रमाण भी उपस्थित नहीं कर पाये। इतना ही नहीं अनेक बार निग्रह स्थान पर आकर पराजित हुये। छान्दोग्य पाठ पर महर्षि दयानन्द ने जय-पराजय की शर्त लगाकर ताल ठोंककर पराजित किया। एवंविध अतीत के दर्पण की ये अन्तः साक्षियाँ महर्षि दयानन्द की विजय को स्पष्ट द्योतित कर रही हैं।

'ते हि नो दिवसा गताः' सम्प्रति शास्त्रार्थ नमूना प्रस्तावक लेखकों से यह कहना है कि **यदि आज भी सत्य चाहते हैं तो काशी के पण्डितों को इकट्ठा कर निर्णय करा सकते हैं, चैलेंज है। दयानन्द न तब हारे थे न अब।** गलत इतिहास बताकर लोगों को दिग्भ्रमित करना उचित नहीं है, इतिहास के पन्नों को मलिन न करें।

इतिहास मनुष्य की वह धरोहर है जो नये युग में खड़े होने का साहस देती है। पुनः यदि यह इतिहास उन महापुरुषों का हो, जिन्होंने स्वार्थ रहित होकर समाज को, देश को नई दिशा दी हो, वेद ज्ञान को सुरक्षित रखा हो, तब तो और भी वह इतिहास प्रेरणा का स्रोत बन जाता है। **उन स्रोत पुञ्जो में महर्षि दयानन्द १०० जीवन में एक जीवन कहे जाने वाले आदर्शवान् संन्यासी थे,** जिन्होंने मनुष्य की खोई मनुष्यता जगाई, वेदोक्त कर्त्तव्यता वताई। अतः दुराग्रह छोड़ सत्य को ही उजागर करनां उचित है। वेद का आदेश है-

ऋतस्य पथा प्रेत।

यजु० ७।४५।।

अर्थात् सत्य मार्ग की ओर बढ़ें, चलें।

सत्धर्म का प्रचार कभी रुक न सकेगा।
बादल में अधिक देर सूर्य छिप न सकेगा[1]।।

१. सायङ्कालीन दैनिक पत्र 'गाण्डीव' में १९ मई २००३ पृ० ४ पर प्रकाशित।

मौलिक रचनायें

१. वेदबिन्दु :–

अन्तरिक्ष वसिष्ठ ब्रह्म आदि विज्ञा

२. कल्याण सुख आनन्द के स्रोत

३. वेदादि सिद्धान्त-शंका समाधान

४. त्रिपदी गौः